अथ प्रस्तावः ॥

श्रीयुत भर्तृहरिकृत नीति शृङ्गार और वैराग्य तीन शतकरूप पुस्तक जगत् में विशेषकर विख्यात है। वास्तव में यह पुस्तक सर्वोपयोगी होने से अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है। क्योंकि यह महान् धर्मात्मा निष्पक्ष आप्तलक्षणयुक्त महाराजा भर्तृहरि जी का शुद्धानुभव है। यद्यपि इस के तीनों शतक अपने २ विषय में मनुष्यों के उपकारी हैं तथापि समय के हेर फेर से भारतवर्ष की इस बिगड़ी हुई दशा में शृंगार विषय अब ऐसा उपयोगी नहीं रहा जैसा कि नीतिशतक और वैराग्यशतक इस समय सर्वोपयोगी हैं। शृङ्गाररस जगत में स्वयमेव स्वभाव से ही ऐसा बढ़ रहा है जिस की वृद्धि को भी भारतवर्ष की अवनति का कारण कहना अनुचित नहीं है। इत्यादि विचारों से हम ने पहिले शृङ्गार को छोड़कर केवल नीति और वैराग्यशतक को ही सुगम भावार्थ और अभिप्राय सहित छपाकर प्रकाशित किया था परन्तु अब यह सोचा गया कि महाराजा भर्तृहरि जी का शृंगार विषय अन्य काव्यों का सा नहीं किन्तु उस से भी विचारशीलों को जैसा उत्तम कल्याणकारी उपदेश लेना चाहिये सो भावानुवाद और भावार्थ देखने से ही पाठकों को ज्ञात होगा।

यद्यपि भावार्थ सहित भी भर्तृहरिकृत तीनों शतक कई जगह छपे और बिकते हैं तो भी उस के भावार्थ को और भी अच्छे प्रकार सुधार के बहुत कम मूल्य में वितरण करने के लिये हमने छपाया है। बाल्यवस्था में ब्राह्मणादि चारों वर्ण के लोग अपने २ बालकों को इस नीतिशतक को कण्ठस्थ कराके इस का आशय समझा देवें और इस के अनुकूल चलने की विशेष शिक्षा कर देवें तो वे बालक बहुत अच्छे शिक्षित हो कर संसार में जन्म भर सुखी रहेंगे इन पुस्तकों को छपा कर प्रकाशित करने से हमारा प्रयोजन वे लोग ठीक २ समझ पावेंगे कि जो भावार्थ रूप से लिखे हमारे वेदशास्त्रानुकूल गम्भीर अनुभवों को ठीक २ एकाग्र चित्त से पढ़ें और समझेंगे तब उन को यह भी ज्ञात हो जायगा कि इन उत्तम पुस्तकों का ऐसा सरल सुगम तथा सारगर्भित भाषाटीका अन्य कोई नहीं है।

इस भर्तृहरिशतक के जितने प्रकार के पुस्तक मिलते हैं उन में प्रायः

श्लोकों की संख्या घट बढ़ मिलती है और अनेक प्रकार का पाठ भेद भी होगया है। सो यह सब लेखकादि के भ्रम से हुआ प्रतीत होता है। हमने अपनी ओर से इन के मूल में कुछ भी नवीनता नहीं की किन्तु जैसा दोचार पुस्तकों में पाठ देखा वैसाही लिखकर छपाया है। राजा भर्तृहरि का आशय खोलना हमारा काम है किन्तु हम अपनी पृथक् सम्मति कुछ भी इसपर खड़ी नहीं करते। हमने इस नीतिशतक को सर्वसाधारण का विशेष उपकारी समझकर पृथक् छपाके अल्प मूल्य से वितरण का उद्योग किया है सो आशा है कि पाठक लोग लेकर लाभ उठावेंगे और हमारे परिश्रम को सुफल करेंगे। यदि कहीं अल्पज्ञता के कारण भूल रहजावे तो सज्जन लोग वक्ता के आशयानुसार ठीक कर लेवें ॥

आप का--भीमसेन शर्मा--इटावा



दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

(दिक्कालेति) जो ईश्वर दशों दिशाओं तीनों कालों और सब आकाश में परिपूर्ण है अर्थात् किसी दिशा में हो किसी में न हो वह दिक्परिच्छिन्न, जो किसी काल में हो किसी में न रहे वह कालपरिच्छिन्न तथा जो किसी जगहहो कहीं न हो वह देशपरिच्छिन्न कहाता है। संसार के मनुष्यादि सब ऐसे ही हैं। परन्तु वह परमेश्वर सब दिशा, देश और कालों में सदा एकरस व्याप्त रहताहै इसी लिये वह अनन्त, चैतन्यस्वरूप और अपने अनुभवसे ही जानने योग्य है ऐसे शान्त तथा तेजोरूप परमात्मा को हमारा नमस्कार हो ॥ १ ॥

जोदिशा कालादि का बीजरूप हैजिसकी सत्ता को लेकर ही दिशा कालादि अपने आपे को धारण किये हुए संसार के काम चलवा रहे हैं वह दिशादि के स्वरूप से ही जगत् में विद्यमान है सूर्य से सब को प्रकाश पहुंचाने के तुल्य उसी चित्स्वरूप की चेतनता से सब चेतन हो रहेहैं उस गूढ़तत्त्व का विरक्त ज्ञानी लोग अनुभव करते हुए उस सम्बन्धी आनन्द को प्राप्त करते हैं ॥

किसी समय उज्जयिनीनिवासी एक ब्राह्मणने किसी महात्मा के प्रसाद से एक ऐसा फल "कि जिस के खाने से जरारोगादि की निवृत्ति और आयुकी वृद्धि हो" पाया। उस ने धन की लालसा से वह फल महाराजा भर्तृहरि कोअर्पण किया—राजा ने वह फल स्वयं न खाकर अपनी परमप्रिया रानी को दिया—रानी ने भी उक्त फल किसी अन्य पुरुष को जिस में उसका मन आसक्त था देदिया उस पुरुष ने वह फल वेश्या को और वेश्या ने राजा को दिया—अर्थात् लौटकर वही फल राजा के पास आगया इस छलयुक्त व्यवहार ने राजा के चित्त में वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया कि जिस से राजा ने विरक्त होकर (यां चिन्तयामीति) यह श्लोक कह कर सब को धिक्कार दिया है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः। अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तांच तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च॥२॥

(यामिति) जिस को मैं निरन्तर चित्त में रखता हूं वह रानी मुझ से विरक्त हो कर किसी अन्य पुरुष को चाहती है और वह पुरुष अन्य स्त्री में आसक्त है तथा वह स्त्री मुझ से प्रसन्न है-इसलिये रानी को, अश्वपालको, वेश्या को, मुझ को और काम देव को धिक्कार है कि जिस की यह सब लीला है॥

आशय यह है कि मनुष्यों की भीतरी दशा को खोज किया जाय तो ऊपर से अच्छे सौम्य सज्जन दीखने वाले भी बहुधा गुप्त पापी होते हैं तब हम किसे अच्छा कहें हम स्वयं भी अपने को शोचें तो पापी ठहरते हैं इसी विचार से राजा भर्तृहरि को कुछ ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं नरञ्जयति ॥३॥

(अज्ञ,इति) अज्ञानी जन सुगमता से समझ सकता है और ज्ञानी अतिसुगमता से-परन्तु जिस मनुष्य को थोड़े से ज्ञान से अभिमान होगया है उसे ब्रह्मा जी भी नहीं समझा सकते ॥

वास्तव में ऐसा ही मनुष्य शठ कहाता है वह उपदेश सुनने का अधिकारी नहीं इस लिये ऐसे को उपदेश न करना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्राङ्कुरात्-
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये-
न्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

अब दो श्लोकों करके दृष्टान्तसहित यह सिद्ध करते हैं कि मूर्खजन कदापि नहीं समझ सकता-(प्रसह्येति) मनुष्य बलात्कार से मगर की दाढ़ों की नोक से मणि निकाल सकता है-चञ्चल तरङ्गों से शोभित सागर को तैर सकता है क्रोधयुक्त सर्प को भी सिर में फूल की माला के तुल्य धारण कर सकता है-परन्तु मूर्ख के चित्त को जो कि कुकर्म में फँस रहा है उसे कोई नहीं हटासकता ॥

आशय यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त बातें असम्भवसी हैं तथापि कदाचित् सिद्ध हो सकें परन्तु मूर्ख को उपदेश करके ठीक कर लेना इन से भी अधिक असम्भव है इस कारण ऐसे मूर्ख को सुधारने के लिये धर्मात्मा विचारशील को निष्फल परिश्रम कदापि न करना चाहिये । यदि ऐसे मूर्ख कानाम मात्र

समुद्र में बिन्दु के समान कुछ सुधार हुआ भी तो भी इतने से विद्वान् का परिश्रम सफल न होगा क्यों कि वह न सुधरों में ही परिगणित होगा ॥४॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्—
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादये-
न्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ५ ॥

(लभेतेति) यत्न से पीड़ने पर बालू में से तेल निकल सकता है—कदाचित् प्यासा मनुष्य मृगतृष्णा में जल पी सकता है—और ढूंढ़ने पर खरहे का सींग भी प्राप्त कर सकता है। यद्यपि उक्त बातें असम्भव हैं परन्तु इन से भी अधिक असम्भव मूर्ख मनुष्य के चित्त को सुधरना है॥

इस कारण हठी मूर्ख को सुधाने के लिये कदापि व्यर्थ उद्योग न करे॥५॥

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते-
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्य्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते=
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः॥६॥

(व्यालमिति) वह मनुष्य कमल की कोमल डण्डी के सूत से (जोकि मुख से फूंक देने मात्र से टूट सकती है अर्थात् अत्यन्त कोमल है) हस्ती को बांधना चाहता है—और शिरिष वृक्ष के पुष्प की पङ्खुरी (यह भी अतिकोमल है) से हीरे को बेधने का यत्न करता है—और बूंद भर मधु (शहद) से खारी समुद्र को मीठा किया चाहता है—जो अपने अमृतरूप वचनों से खलों को सन्मार्ग में ले आना चाहता है॥

जैसे पूर्वोक्त असम्भव काम कदापि सिद्ध नहीं हो सकते वैसे अच्छे उपदेश से मूर्ख का सुधारना भी असम्भव है। इसलिये ऐसे असम्भव काम के लिये अन्य कामों की हानि करके व्यर्थ उपाय न करे ॥ ६ ॥

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्॥७॥

(स्वायत्तमित्ति) मौन(चुपरहना) अपने आधीन गुण है-विधाता ने इसे मूर्खता का ढकना बनाया है और विशेष कर बुद्धिमानों की सभा में तो यह मूर्खों का बड़ा भूषण है ॥

अल्पज्ञ मनुष्य को चाहिये कि कम बोले वा मौन रहे तो उस की प्रतिष्ठा और गौरव शीघ्र नहीं विगड़ेगा और कार्य सिद्ध होते जायंगे ॥ ७ ॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोहं द्विप इव मदान्धः समभवं-
तदा सर्वज्ञोस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं-
तदा मूर्खोस्मीति ज्वरइव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

(यदेति) अल्पज्ञानी अभिमानी होता है और विशेषज्ञ जन नम्र होजाता है इसको अपने ऊपर दृष्टान्त लाकर श्री भर्तृहरि जी कहते हैं कि जब मैं अल्पज्ञ था तब हस्ती के तुल्य मद से अन्धा होरहा था-परन्तु जब मैंने पण्डितों से कुछ २ ज्ञानप्राप्त किया तो अपनेको मूर्ख पाया और मेरा मद ज्वर के समान उतर गया।

अल्पज्ञ का बड़ा लक्षण यही है कि जो अपने को ज्ञानी समझे अपनी बात पर हठ करे किसी बड़े विद्वान् की भी न माने यदि श्रेष्ठ विद्वानों का सङ्ग करे और विद्वान् लोग धीरे २ उस के मद (नशा) को शान्त करें तो कदाचित् समझ सके ॥ ८ ॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं-
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते-
नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥९॥

(कृमिकुलचितमिति) क्षुद्र विषयों में फसे हुये मनुष्य को श्वान् के दृष्टान्त से बुरा बताते हैं कि जैसे कुक्कुर-कीड़ों के समूह से युक्त, लार से भीगे दुर्गन्धि से पूरित,निन्दित,नीरस तथा मांसरहित मनुष्य के हाड़ को खाते समय अपने पास खड़े हुये इन्द्र को भी देखकर शङ्का नहीं करता वैसे ही क्षुद्र मनुष्य जिस वस्तु को ग्रहण करता है उस की तुच्छता पर ध्यान नहीं देता और सज्जनों की निन्दा से नहीं डरता है ॥

इसलिये सज्जनों को चाहिये कि ऐसे क्षुद्र पुरुषों की सदा उपेक्षा करते रहें॥९॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं-
महीध्राादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा-
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥१०॥

(शिर, इति) उत्तमस्थान (पद) से गिरा हुआ मनुष्य क्रमशः नीचे ही गिरता जाता है इस को गङ्गा के दृष्टान्त से कहते हैं कि जैसे गङ्गाजी प्रथम स्वर्ग से महादेव जी के मस्तक पर गिरीं—पुनः वहाँ से ऊंचे पर्वत पर—उस पर्वत से भूमिपर भूमिसे समुद्रमें—इस प्रकार क्रमसे नीचे२ ही गिरती गईं—वैसे विवेक भ्रष्टजन भी अनेक प्रकारसे नीचेको ही गिरते जाते हैं ऊपर दृष्टि नहीं डालते॥

इसीलिये ऐसे मनुष्य जबतक अपने गिरने की पूरी अवधि (हद्द) तक न गिरचुकें तबतक उनको ऊपरी कक्षामें चढ़ानेका उद्योग न किया जाय क्योंकि उनका बीचमें सुधरना असम्भव है । गंगा जी का दृष्टान्त केवल गिरने मात्र के साथ लेना इष्ट है ॥१०॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो-
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं-
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥११॥

(शक्य इति) जलसे अग्निका, छातासे धूप (घाम) का, तीखे अङ्कुशसे मद वाले हाथीका, दण्डासे दुष्ट बैल तथा गदहेका, अनेक प्रकारके औषधोंसे रोग का और मन्त्रप्रयोग से विषका निवारण किया जा सकता है । इस प्रकार शास्त्र में सब का औषध कहा है परन्तु मूर्ख का कोई औषध नहीं है ॥

यह अत्युक्ति है सर्वथा निषेध करने में तात्पर्य नहीं किन्तु आशय यह है कि अग्नि आदि को जलादि से शान्त करना सहज है पर मूर्ख को ज्ञानो-पदेश से शान्त करना बहुत कठिन है इस कारण समयानुकूल किसी साम दान दण्डादि उपाय से मूर्ख को शान्त करना चाहिये ॥११॥

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥१२॥

(साहित्येत्यादि) जो मनुष्य साहित्य, संगीतशास्त्र और कला कौशल की विद्या से अनजान है—वह पूंछ और सींग से रहित साक्षात् पशु है—यह विलक्षण पशु जो तृण (घास) नहीं खाता और जीता है यह उन पशुओं का उत्तम भाग्य (खुशकिस्मती) है ॥

प्रयोजन यह कि संसार में पशु के तुल्य न रहें वा न माने जावें इस कारण प्रत्येक मनुष्य को शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये ॥१२॥

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१३॥

(येषामिति) जो मनुष्य न विद्यासम्पन्न, न तपस्वी, न दानी, न ज्ञानवान् न सुशील, न गुणी और न धर्मात्मा हैं वे संसार में पृथ्वी पर भाररूप हुए मनुष्य के स्वरूप से साक्षात् पशु विचरते हैं। इस लिये पशुता दूर करने के अर्थ मनुष्य को विद्यादि शुभगुणों से युक्त होना योग्य है ॥१३॥

इन विद्यादि गुणों में से कोई २ गुण कुछ २ सभी मनुष्यों में अवश्य होता है पर थोड़ा गुण अधिक अवगुणों से दबा रहने के कारण कहा नहीं जाता॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैस्सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥ १४ ॥

(वरमिति) पर्वतों और दुर्गम वनों में व्याघ्रादि वा भील आदि वनचरों के संग भ्रमण करना उत्तम है परन्तु मूर्खों का सहवास चाहे इन्द्रभवन में भी हो वह भी दुःख दायक होने से त्याज्य है अर्थात् सज्जनों का समागम करना सर्वोत्तम है ॥ १४ ॥

अभिप्राय यह है कि जैसे पुष्पवाटिका में जाने से शरीर में सुगन्धि के परमाणु नासिकादि द्वारा पहुंचते उन से सुख होता है पर पैखाना में जाने से दुर्गन्धलगता जो हानिकारक है वैसे ही मूर्ख के संग से मनुष्य को दुःखदायी दुर्गुण प्राप्त होते हैं किन्तु वन पर्वतादि में जंगली जीवों के संसर्ग में वैसे दोषन नहीं लगते हैं ॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा-
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।

लज्जाऽऽर्हं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः-
कुत्स्याः स्युःकुपरीक्षकाहि मणयो यैरर्घतः पातिताः॥१५॥

(शास्त्रोपस्कृतेत्यादि) शास्त्रों के शब्दों से जिन की वाणी सुन्दर है शिष्यों के देने योग्य जिन के पास विद्या है ऐसे सुप्रसिद्ध विद्वान् कवि जिसके देश में निर्धन हुए दुःखी रहते हैं वह राजा मूर्ख है और कविजन तो बिना धन के भी उत्तम ही हैं क्योंकि जिन्हों ने मणियों का असल मूल्य घटा दिया है वे परीक्षक (जौहरी) ही खोटे हैं किन्तु मणि किसी प्रकार दूषित नहीं॥

राजादि श्रीमानों को योग्य है कि श्रेष्ठ विद्वानों का सदा आदर सत्कार समागम किया करें ऐसा न करने से विद्या वा धर्म सम्बन्धी प्रकाश से शून्य रह कर राजादि की ही हानि है ॥ १५॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा-
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं-
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥१६॥

(हर्तुर्यातीति) जो हरने [पढ़ने] वाले को नहीं दीख पड़ता, सर्वदा कुछ सुख बढ़ाता, विद्यार्थियों को देने पर भी बहुत बढ़ता और कल्पान्त-प्रलय समय में भी जिस का नाश नहीं होता ऐसा छिपा हुआ विद्यारूपी धन जिन के पास है, हे राजा लोगो ! उन से अभिमान छोड़कर वर्तो । क्योंकि उन की बराबरी कौन कर सक्ता है ? उन ऐसे परीक्षक विद्वानों के साथ ईर्ष्या द्वेषादि करने वाला अपने सुख के मूल विद्या धर्मादि शुभ गुण से ही ईर्ष्या करता जानो ॥ १६ ॥

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि ।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां-
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ १७ ॥

(अधिगतपरमार्थान् इति) जिन को परम अर्थ (मोक्ष) पर्यन्त की

सामग्री प्राप्त है ऐसे विद्वानों का निरादर मत करो। क्योंकि उन्हें तुम्हारी तृणवत् तुच्छ लक्ष्मी नहीं रोक सकती है. इस में दृष्टान्त है कि जैसे महामत्त गजराज को कमल की नालका सूत नहीं बांध सकता ॥

अर्थात् श्रेष्ठ विद्वानों ज्ञानियों योगियों तथा ऋषियों के सामने धनादि ऐश्वर्य का अभिमान कभी किसी को नहीं करना चाहिये। जिस धनादि ऐश्वर्य को तृण के समान जो तुच्छ समझते हैं उस के लालच में जो नहीं फसते वेही ज्ञानी वा योगी कहे जाते हैं, वे ऐश्वर्य के द्वारा किसी श्रीमान् के वशीभूत नहीं हो सकते इस लिये यदि कोई श्रीमान् उक्त प्रकार के महात्माओं के सङ्ग से अपना कल्याण चाहता हो तो उन के सामने धन के अभिमान को सर्वथा त्याग के उन की भक्ति वा सेवादि करे ॥ १७ ॥

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव, हंसस्य हन्ति
नितरां कुपितो विधाता। नत्वस्य दुग्धजलभेद-
विधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्त्तिमपहर्त्तुमसौ समर्थः ॥१८॥

(अम्भोजिनीत्यादि) यदि विधाता हंस पर क्रोध करे तो उस के कमलवन में रहने के आनन्द को तो नष्ट कर सकता है परन्तु उस के दूध और जल को पृथक् २ करने के प्रसिद्ध चातुर्य और उस से होने वाले यश के नाश करने में विधाता भी असमर्थ है ॥

प्रयोजन यह है कि राजादि श्रीमान् पुरुष भी ऋषि महर्षि विद्वान् को अपने देश से निकाल सकता है " (को विदेशः सुविद्यानाम्) अच्छे विद्यावानों का कोई विदेश नहीं रहता इस से राजादि लोग विद्वान् को कुछ कष्ट नहीं दे सकते" परन्तु विद्या से होने वाले परमानन्द और उस की कीर्त्ति में कुछ भी बाधा नहीं डाल सकता इस लिये विद्वान् से नमना ही राजादि का परम कर्त्तव्य है ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला–
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्द्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते–
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१९॥

(केयूरा इति) केयूर [बाजूबन्द] चन्द्रमा के तुल्य उज्ज्वल मोतियों का हार, स्नान, चन्दन, पुष्पमालादि का धारण और संवारे हुए केश पुरुष को भूषित नहीं कर सकते —किन्तु संस्कारयुक्त वाणी ही पुरुष को अलङ्कृत कर सकती है-क्योंकि वस्त्रादि आभूषण नष्ट होने वाले हैं पर वाणीरूप भूषण ही सच्चा भूषण है ॥

इस लिये विद्या द्वारा वाणी को शुद्ध करके वाणी से सत्य, प्रिय, सबका हितकारी वचनबोलना और वेदादिशास्त्र के अध्यापनरूप परम धर्म का सेवन करनाचाहिये इससे सब प्रकार की शोभा बढ़ सकतीहै अर्थात् कठोर, मिथ्याभाषण चुगली, अनर्गल वा व्यर्थ अधिक बोलना ये वाणी के चार दोष जिसमें होतेहैं उस के अन्य सबभूषणों की शोभा अच्छे लोगों में शीघ्र ही बिगड़जातीहै ॥१९॥

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं-
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनोविदेशगमने विद्या परं दैवतं-
विद्याराजसु पूजिता नहि धनं विद्याविहीनः पशुः॥२०॥

(विद्येत्यादि) विद्या मनुष्य का उत्तमरूप और छिपा हुआ धनहै-विद्या ही भोग, यश और सुख देने वाली है-विद्या गुरुजनों का भी गुरु है—विदेशमें विद्या ही भाई के समान सहायकारिणी होती है। विद्या ही परम देवता है राजाओं में विद्या की ही पूजा होती है धन की नहीं। इतने गुणों को सिद्ध करने वाली विद्या जिस मनुष्य के पास नहीं वह साक्षात् पशु है ॥

जिस कक्षा की विद्या नाम ज्ञान—सत्यासत्य को समझने की योग्यता जिस में होती है उस को वैसा ही भोग तथा कीर्त्ति वा प्रतिष्ठा का सुख मिलता है इससे उत्तम उच्च कक्षा की विद्या प्राप्ति का उपाय मनुष्य को करनाचाहिये॥२०॥

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां--
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि--
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२१॥

(क्षान्तिश्चेदिति) जिस पुरुष में क्षमा है उस को कवच से क्या? जिसमें क्रोध है उसे शत्रु की क्या आवश्यकता है? जिस की जाति (बिरादरी) है उसको अग्नि से क्या प्रयोजन?—जिस का हृदय अच्छा शुद्ध निर्दोष है उसे दिव्य औषधों से क्या प्रयोजन? जिस के साथ दुष्टजन विद्यमान हैं उस को सर्प और अधिक क्या हानि कर सकते हैं?—जिस के पास निर्दोष विद्या है उसे धनोपार्जन क्यों करना?—जो लज्जावान् है उसको अन्य भूषण से क्या प्रयोजन? जो सुन्दर कविता कर सकता है उस की दृष्टि में राज्य क्या पदार्थ है? अर्थात् कुछ नहीं; क्षमा ही सब से बड़ा रक्षक, क्रोध ही सब से बड़ा शत्रु, कुटुम्बी लोग ही सब से अधिक जलाने वाले, हृदय की शुद्धि ही सब उपद्रवों से बचने का हेतु, दुर्जन ही अत्यन्त दुःखदायी, विद्या ही सर्वोपरि धन, लज्जा ही सर्वोपरि शोभा और अच्छी कविता शक्ति ही राज्य से भी बड़ी है ॥

अर्थात् क्षमा आदि से कवचादि की अपेक्षा रक्षादि कार्य अधिक सिद्ध हो सकते हैं इस लिये क्षमादि को अवश्य धारण करना चाहिये इन्हीं गुणों से कवचादि वाले क्षत्रियादि की अपेक्षा ब्राह्मण बड़ा व श्रेष्ठ ठहर जाता है ॥२१॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने—
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्त्तता—
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२२॥

(दाक्षिण्यमिति) अपने सम्बन्धियों वा भृत्यादि के साथ सरलता, दूसरों पर दया, दुर्जन के सङ्ग कठोर वर्त्ताव, सज्जनों में प्रीति, राजसभा में विनय, पण्डित जनों के साथ सीधापन, शत्रुओं से शूरता, पूज्यजनों में क्षमा, और (जो व्यभिचारादि में फंस कर कुटिल हों ऐसी) स्त्रियों के साथ धूर्त्तता करना इस प्रकार की कला (गुणों) में जो पुरुष निपुण हैं उन्हीं के आश्रय संसार की स्थिति है॥

अर्थात् ऐसे आचरण से निर्विघ्न संसार का काम चलता है इस से विचारशील पुरुषों को ऐसा ही श्रेष्ठ वर्त्ताव सदा करना चाहिये ॥ २२

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं—
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिं—

सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥ २३ ॥

(जाड्यमिति) बुद्धि की जड़ता को दूर करती, वचन में सचाई को भरती, प्रतिष्ठा को बढ़ाती, दुष्कर्म की निवृत्त करती; चित्त को प्रसन्न करती और सर्वत्र यश को फैलाती है—कहो वह कौन सी भलाई है जिसे सत्सङ्गति सिद्ध नहीं करती ? अर्थात् सब भलाइयों का मूल सत्सङ्ग है ॥

इस लिये इस लोक और परलोक में जो लोग अपना कल्याण चाहैं वे सत्सङ्ग अवश्य करें। जैसे किसी प्रकार के मलिन पदार्थों का सङ्ग करने से उस को दोष भी अवश्य लगते हैं। कज्जलभरी कोठरी में जाकर कोई निर्दोष (बेदाग़) निकल आवे यह असम्भव है। इसी प्रकार सङ्गदोष अवश्य लगने के समान अच्छे सङ्ग के गुण भी अवश्य ही लगते और उस का सुधार भी यथायोग्य अवश्य ही होता है इस से सत्सङ्ग अवश्य करना चाहिये ॥ २३ ॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥ २४ ॥

(जयन्तीति) ऐसे सुकृती [पुण्यात्मा] कवीश्वर लोग कि जो साहित्यशास्त्रोक्त आठों रसों में सिद्धि प्राप्त किये हुये हों वे ही सब मनुष्यों में उत्तम हैं। क्योंकि उन के कीर्त्तिरूपी देह में कभी जरा (बुढ़ापा) और मरण का भय नहीं होता ॥

सुविद्या ही संसार में मनुष्य की सर्वोत्तम कीर्त्ति को स्थापित रखने में बड़ा हेतु है इस कारण यश चाहने वाले श्रेष्ठ विद्वानों से उत्तम विद्या प्राप्त करें ॥२४॥

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः—
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः ।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं—
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिनाम् ॥ २५ ॥

(सूनुरिति) जिस पर सर्वसुखों का स्वामी ईश्वर प्रसन्न होता वा जिसका भाग्य नाम प्रारब्ध अच्छा होता है उस को निम्न लिखित सुख सामग्री प्राप्त होती है। शुद्ध आचरण वाला पुत्र, पतिव्रता स्त्री, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, प्रेमी मित्र; सरलमन वाले कुटुम्ब के लोग, क्लेश से रहित मन, सु-

न्दर स्वरूप, चिरस्थायी ऐश्वर्य और विद्या से शोभायमान सुख ॥

इस लिये ऐसा सुख चाहने वाले को उचित है कि ईश्वर की आज्ञा पालन रूप धर्म के सेवन तथा उसकी विशेष भक्ति और पूजा उपासना से परमेश्वर को प्रसन्न करे ॥ २५ ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यम्–
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा–
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः॥२६

(प्राणाघातादिति) सर्वसम्मत परस्पर अविरुद्ध सब शास्त्रों में मर्य्यादा सहित कल्याण का मार्ग यह बताया गया है कि जीवहिंसा न करना, पराये धन हरने से मन को रोकना, सत्य बोलना, उचित समय पर यथाशक्ति दान करना, पराई स्त्रियों की बातें न करना और न सुनना, तृष्णा के वेग को रोकना, गुरुजनों के आगे नम्र रहना और प्राणिमात्र पर दया करना ॥

यही सर्वतन्त्र सिद्धान्त के अनुसार सब मनुष्यमात्र के लिये एकसा कल्याण का मार्ग है। इन अहिंसादि में शास्त्रकारों का परस्पर कुछ भी मत भेद नहीं है सब की एकरतराय से यही कल्याण का मार्ग है ब्राह्मणादि वर्णों के भिन्न २ धर्म कर्म के साथ भी इन का सेवन करना अत्यावश्यक है। इन सामान्य व्यापक धर्मांशों के सेवन किये विना कहीं कभी किसी का कल्याण नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः–
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः–
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २७ ॥

(प्रारभ्यत इति) क्षुद्र (तमोगुणी) लोग विघ्न के भय से किसी सत्कार्य को आरम्भ ही नहीं करते–मध्यम जन (रजोगुणी) प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु विघ्न पड़जाने से उस काम को बीच ही में छोड़ देते हैं। उत्तम (सा-

स्थिक) लोग निरन्तर विघ्नों को सहारते हुए भी उस काम को विना पूरा किये नहीं त्यागते ॥

क्योंकि उत्तम सज्जन पुरुष विचार पूर्वक आरम्भ करते और अन्तिम सुखदायी परिणाम पर दृष्टि रखते हैं। इस कारण उत्तम बनने की इच्छा वालों को चाहिये कि जिन २ अच्छे धर्म सम्बन्धी कामों का आरम्भ करें उनको यद्दे २ कष्ट पड़ने पर भी बीच में न छोड़ कर पूरे करें ॥ २७ ॥

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः-
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां-
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ २८ ॥

(असन्त इति) सत्पुरुषों को चाहिये कि क्षुद्रजनों से याचना न करें, न निर्धन मित्र से कुछ मांगें—किन्तु न्यायानुकूल चित्त को प्रसन्न करने वाली जीविका करें, प्राण जाने के भय से भी खोटा या कठिन [चित्त को मलिन करने वाला] काम न करें, विपत्ति में भी कड़े बने रहें किन्तु घबराकर अपनी गम्भीरता को न छोड़ें—और उत्तम जनों के आचरण को धारण किये रहें इस प्रकार तलवार की धार से भी तीक्ष्णव्रत [नियमपालन] का उपदेश उन के लिये किसने किया है ? अर्थात् किसी ने नहीं यह सज्जनों का स्वाभाविक ही गुण है ॥

इस लिये जिस को सज्जनकोटि में प्रविष्ट होना अभीष्ट हो वह उक्त प्रकार के सज्जनों के गुण धारण करे ॥ २८ ॥

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः-
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥२९॥

(क्षुत्क्षामोपीति) भूख से दुर्बल, बुढ़ापे से दुर्बल, पराक्रम से हीन, शोचनीय-दशा को प्राप्त, तेजरहित, और जिस के प्राण निकलने की दशा हो रही है ऐसा, मत्त हाथी के मस्तक के मांस के ग्रास की चाह करने वाला और अभिमानियों में अग्रगन्ता—सिंह—क्या सूखी घास को खायगा ? कदापि नहीं ॥

इस से आशय यह है कि महान् पुरुष महती विपत्ति में भी अयोग्य वृत्ति से जीवन करना नहीं चाहते। इस लिये महान् पुरुषों के आचरणों में निष्ठा रखने वालों को किसी कठिन दशा [हालत] में भी नीचपना देने वाले नीच काम की ओर न झुकना चाहिये ॥ २९ ॥

स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः-
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं-
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥३०॥

(स्वल्पमिति) स्नायु और चर्बी में सने हुये मांसरहित बैल की हड्डी के छोटे से टुकड़े को पाकर श्वान [कूकर] बहुत प्रसन्न होता है यद्यपि वह हाड़ उस कुत्ते की भूख को दूर नहीं कर सकता, और सिंह अपनी गोद में आये हुये शृगाल को भी छोड़ देता और हस्ती को मारना चाहता है ॥

इस से यह तात्पर्य है कि सब कोई दुःखी होने पर भी अपनी शक्ति के अनुसार ही फल चाहता है—अल्प से तृप्त नहीं होता अर्थात् सज्जन लोग भी अपनी सज्जनता को कभी नहीं छोड़ते और छोड़नी भी नहीं चाहिये ॥३०॥

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं-
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु-
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ३१ ॥

(लाङ्गूलेति) कुत्ता टुकड़ा देने वाले के आगे पूंछ हिलाता, पैरों पर गिरता पृथ्वी पर लोटकर मुख और पेट दिखाता है। परन्तु हस्ती अपने को भोजन देने वालेकी ओर धीरतासे देखता जाता और झूम झूमकर खाता जाता है। आशय यह है कि तुच्छ मनुष्य अपने वृत्तिदाताकी सैंसौ खुशामदें और चापलूसी करते हैं—परन्तु महान् पुरुष बड़ी गम्भीरतासे वर्तते हैं ॥

इस लिये मनुष्य को निकम्मे हो के खुशामदी न होना चाहिये किन्तु गम्भीरता धृति नामक धर्म का धारण करना सबकी प्रतिष्ठा का हेतु है ॥३१॥

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।

परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ ३२ ॥

(स जात इति) इस जगत में वही मनुष्य जन्मा है कि जिसके जन्मनेसे वंश की उन्नतिही—नहीं तो चक्र [गाढ़ी के पहिये] के समान सदा घूमने वाले संसार में सभी मरते और जन्मते हैं ॥

अर्थात् मुख्य वा अन्तरङ्ग होने के कारण मनुष्य को पहिले ऐसे काम करने चाहिये जिन से अपने वंश की प्रतिष्ठा, सुखोन्नति और गौरव बढ़े जिसने अपना ही सुधार न किया वह जगत् को क्या सुधार सकता है ? ॥ ३२ ॥

कुसुमस्तवकस्येव द्वे गती स्तो मनस्विनाम् ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्य्येत वनेऽथवा ॥३३॥

(कुसुमेति) पुष्पों के गुच्छे की नाईं मनस्वी (दृढ़ विचार वाले वीर) पुरुषों की दो प्रकार की गति रहती है। या तो सब के शिर पर विराजते हैं—नहीं तो वन में ही सूख जाते हैं ॥

अर्थात् विचारशील मनुष्य को दो ही रीति पर जन्म व्यतीत करना चाहिये वा अच्छे ज्ञानी लोग स्वभाव से ही इन दो में से किसी मार्ग पर चलते हैं किन्तु अधोगति में नहीं पड़े रहते। यदि संसार में रहते हैं तो ऐसे काम करते हैं जिससे सब कोई प्रतिष्ठा देता और परमार्थ चाहते हैं तो वन में जाकर तप करते हैं ३३

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविताः पञ्चश-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ॥
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ ।
भ्रातः! पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषी कृतः ॥३४॥

(सन्तीति) यद्यपि बृहस्पति आदि अन्य भी पांच ग्रह आकाश में हैं परन्तु अधिक पराक्रम की रुचि करने वाला राहु उन से वैर नहीं करता, हे भ्रातः ! देखो अमावस और पूर्णमासी को जिस का शिरमात्र शेष रह गया है ऐसा राहु—पूर्ण तेज वाले सूर्य और चन्द्रमा को ही ग्रसता है ॥

कवि ने इससे यह सिद्ध किया है कि दुर्जन मनुष्य अपने पराक्रम की उत्कृष्टता दिखाने के निमित्त तेजस्वी लोगों से ही वैर बांध बैठते हैं। क्योंकि इस से उन की प्रसिद्धि होती है सज्जन पुरुषों को ऐसा न करना चाहिये॥३४॥

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थिताम्-
कमठपतिना मध्ये पृष्ठं सदा स विधार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा—
दहह ! महतां निस्सीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ ३५ ॥

(वहतीति) शेषजी ने अपने फण पर सारे भुवनों को धारण किया है—उस शेष को भी कच्छप ने अपनी पीठ पर धारण किया उस कच्छप को भी समुद्र ने आदर से वराह के आधीन किया—इस पुराणों की कथा के दृष्टान्त से भर्तृहरि जी यह सिद्ध करते हैं कि महापुरुषों के कर्म और ऐश्वर्य भी बड़े ही होते हैं ॥

महात्माओं की अवधि या थाह सब को नहीं मिल सकती इसी कारण वे महात्मा नाम महान् बड़े गम्भीर अगाध विचार वाले कहाते हैं ॥ ३५ ॥

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः ॥
तुषाराद्रेः सूनोरहह ! पितरि क्लेशविवशे-
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां प युचितः ॥३६॥

(वरमिति) इन्द्र के वज्रजन्य अग्नि से भस्म होकर मरजाना अच्छा था—परन्तु अपने पिता हिमालय को दुःख में छोड़ कर मैनाक को उचित न था कि अपनी रक्षा के लिये समुद्र में जा पड़ता ॥

आशय यह है कि सन्तान को उचित नहीं कि माता पिता को दुःखित छोड़ कर आप सुखी हो बैठे क्योंकि धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से माता पिता वा आचार्य की सेवा करना ही पुत्र का परमधर्म है ॥ ३६ ॥

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ॥ ३७ ॥

(यदिति) यद्यपि सूर्यकान्त मणि अचेतन (जड़) है तथापि सूर्य के किरण रूप चरणों से छुएजाने पर जल उठता है—तो सचेतन तेजस्वी पुरुष अन्य नीच पुरुष से हुए अनादर को क्योंकर सहार सकता है ? ॥

अर्थात् यदि दुष्ट को दण्ड देने का सामर्थ्य न हो तो उससे उदासीन हो जाना चाहिये परन्तु दुष्ट के आधीन सज्जन को कभी न रहना चाहिये ॥३७॥

सिंह: शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतु: ॥३८॥

(सिंहइति) यद्यपि सिंह का बच्चा देखने में छोटा हो तो भी मदवाले हस्ती को मारने के लिये झपट के दौड़ता है। तेज वालों का यह स्वभाव ही है कुछ तेज का कारण अवस्था नहीं है ॥

अर्थात् सज्जनता की प्रकृति वाले मनुष्यादि प्राणियों के बालकों में भी वैसा स्वभाव होता है इस से संस्कार रूप क्रियमाण साध्य गुण की अपेक्षा स्वाभाविक जातीय सिद्धगुण की प्रबलता जतायी है इस से (संस्कारात्प्रबलाजातिः) इस नीति के सिद्धान्त को यहां पुष्ट किया जानो। सो यह धर्मशास्त्रों के अनुसार जाति से वर्णव्यवस्था सिद्ध होने की प्रबलयुक्ति सब विद्वानों के सम्मत ही है ॥ ३८ ॥

अथ द्रव्यप्रशंसा ॥

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतात्–
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजन: सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्य्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोस्तु न: केवलम्–
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्राया: समस्ता इमे ॥३९॥

(जातिरिति) चाहे ब्राह्मणादि जाति पाताल को चली जाय, समस्त गुण उस से भी नीचे चले जावें और शील भले ही पर्वत से गिर कर नष्ट हो जाय तथा कुलीनता अग्नि से जल जावे, और शूरता [बहादुरी] के ऊपर वज्र–बिजुली गिरपड़े। परन्तु हमें केवल द्रव्य से प्रयोजन है कि जिस के विना सब गुण तृण के भी छोटे टुकड़े के समान हो कर निरर्थक हो जाते हैं। अर्थात् एक धन के न होने से जाति के लोग प्रतिष्ठा नहीं करते, गुण भी अवगुण से दीखने लगते हैं, शील को कोई नहीं पूछता, कुटुम्ब के लोग बात नहीं करते और शूरवीरता व्यर्थ हो जाती है। तात्पर्य यह कि संसार सम्बन्धी कोई काम धन के विना नहीं चलता ॥

अभिप्राय यह है कि धर्मानुकूल धन का उपार्जन संसारी मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। धन के विना जाति आदि प्रतिष्ठा के हेतु नहीं यह

समयानुसार सिद्धानुवाद है [कि धन को बड़ा वा सर्वोत्तम मानने वाले संसारी लोग ऐसा मानते हैं । किन्तु धर्म वा विद्या को बड़ा मानने वाले परमार्थी परीक्षक लोगों का यह सिद्धान्त नहीं है] किन्तु विधिवाक्य नहीं । विधि यह है कि विद्यावान् की [निर्धनदशा में भी] सर्वोपरि प्रतिष्ठा होनी चाहिये सो यह धर्मशास्त्र नहीं इसीलिये यहां विधिवाक्य कहने की आवश्यकता नहीं है नीति के अनुसार सिद्धानुवाद कहना ही उचित है ॥ ३९ ॥

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म–
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव–
स्त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ ४०॥

(तानीति) मनुष्य की वे ही इन्द्रियां हैं वही व्यवहार है वही बुद्धि है और वचन भी वही है परन्तु एक धन की गर्मी न रहने से मनुष्य क्षणमात्र में और का और ही हो जाता है ॥

आशय यह है कि यद्यपि इन्द्रियादि सामग्री पूर्ववत् वही है परन्तु धनहीन होने से लोगों की दृष्टि में पूर्ववत् उस का गौरव नहीं रहता । यह भी सिद्धानुवाद संसार की मौजूदा हालत को नीत्यनुसार दिखाता है । धर्मशास्त्र की मर्यादानुसार विधि यह होना चाहिये कि यदि वह धर्मात्मा गुणी वा विद्वान् हो तो उस की प्रतिष्ठा और गौरव धनहीन दशा में भी रहना चाहिये ४०।

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥४१।

(यस्येति) जिस मनुष्य के पास धन है वही अच्छे कुल वाला, बुद्धिमान्, शास्त्रवेत्ता, गुणी, वक्ता और सुन्दर रूपवान् समझा जाता है । इस से यह सिद्ध होता है कि सब गुण द्रव्य के आश्रित हैं ॥

अर्थात् उक्त गुणों को धन के विना संसारी व्यवहार में कोई नहीं पूछता यह भी सिद्धानुवाद है किन्तु विधिवाक्य नहीं अर्थात् ग्रन्थकर्त्ता का यह आशय नहीं है कि धनहीन को कुलीनतादि से प्रतिष्ठा न मिलनी चाहिये किन्तु जगत् में गतानुगतिक [भेड़िया धसान] दशा के अनुसार सर्वसाधारण लोग धन को ऐसी प्रधानता देते हैं कि धन के न होने पर कुलीनतादि को

कुछ भी नहीं समझते और खुशामदी लोग धन वाले में सब गुण ठहरा देते हैं यह संसारी मनुष्यों का दोष है, शास्त्र का नहीं ॥ ४१ ॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ॥
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात् प्रमादाद्धनम् ॥४२॥

(दौर्मन्त्र्यादिति) खोटी सलाह से राजा, अधिक मेल जोल से संन्यासी, लाड़ प्यार से पुत्र, विद्या न पढ़ने से ब्राह्मण, दुष्ट सन्तान से कुल, दुष्ट पापी के सङ्ग से शील, मदिरा पीने से लज्जा, नित्य न देखने से खेती, विदेश में अधिक रहने से स्नेह, अधीनगी के विना मित्रता, अनीति से धन संपत् और अंधाधुन्ध विरक्तता तथा प्रमाद वा भूल से धन नष्ट हो जाता है ॥
इसलिये राजादि मनुष्यों को खोटी सलाह आदि से सदा बचना चाहिये ॥४२॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥४३॥

(दानमिति) दान देना, भोग लेना और नाश हो जाना । ये तीन मार्ग धन के निकलने के हैं । जो पुरुष धन को न दान करता और न भोगता है-उस के धन की तीसरी गति (नाश) अवश्य होती है ॥

इस लिये धनी पुरुष को चाहिये कि सञ्चित किये धन से स्वयं सुख भोगे और सुपात्रों को दान देवे तथा परोपकारी धर्मसम्बन्धी और यज्ञादि तथा देवमन्दिर देवपूजा बावली कुआ तालाब बनवाना और अनाथ दीनों की रक्षा रूप स्मार्त्त कामों में धन को लगावे ॥ ४३ ॥

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो-
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः स्त्यानपुलिनाः ।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना-
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥४४॥

(मणिरिति) इतनों की शोभा अधिक कृशता से ही होती है-सान पर घिसे हुए हीरे की, युद्ध में जीतने वाले शस्त्र से घायल की, मद से उतरे

हस्ती की, शरद् ऋतु में अल्प जलवाली नदी की, द्वितीया के चन्द्रमाकी, रति से पीड़ित हुई बाला स्त्री की और अतिदान से निर्धन हुए पुरुष की शोभा है ॥

आशय यह है कि इतनों की दुर्बलता वास्तव में दुर्बलता नहीं किन्तु उन २ कार्यों के सिद्ध करने से उन २ की सार्थकता हो कर शोभा है इसलिये उन २ के स्वरूप को घटाने वाले होने पर भी ऐसे २ काम कर्त्तव्य हैं ॥ ४४ ॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये—
स पश्चात्सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ।
अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयार्थेषु धनिना—
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च ॥४५॥

(परिक्षीण इति) जब कोई मनुष्य अत्यन्त गिरी हुई दशा में होता है तो एक लप भर जौ की इच्छा करता है । पुनः वही पुरुष जब अति धनाढ्य हो जाता है तो पृथिवी को भी तृण समान गिनने लगता है । इस कारण ये दोनों अवस्था ही पुरुष को बड़ा और छोटा बनाती तथा वस्तुओं को भी फैलाती और सङ्कुचित करती हैं ॥

तात्पर्य्य यह है कि जब समयानुसार मनुष्य की दशा बढ़ती है तो इस की इच्छा और सङ्कल्पविकल्प भी बढ़ते जाते हैं । न्यून होने पर इच्छादि सब शिथिल पड़ जाते हैं इस लिये विचारशील पुरुष शान्ति के साथ अवस्था वा दशा के अनुसार धर्म पर चलते हुए ही अपना निर्वाह करें ॥ ४५ ॥

राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां—
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ॥
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे—
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥४६॥

(राजन्निति) हे राजन् ! यदि पृथिवीरूप गौ को अच्छे प्रकार दुहा चाहते हो तो बछड़ा रूपी प्रजा को भली भांति पोषण करो । क्योंकि जब प्रजारूप बछड़ा निरन्तर पुष्ट किया जायगा तभी यह भूमि कल्पलता की भांति नानाप्रकार के फल फूलों से फलेगी ॥

सारांश यह है कि जो राजा भांति २ के पदार्थों से सुखी हुआ चाहता है उसे तन मन, धन से प्रजा को प्रसन्न रखना परमावश्यक है—ऐसा किये बिना राजा को सुख होना असम्भव है ॥ ४६ ॥

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च—
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च—
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४७ ॥

(सत्येति) राजा लोगों की नीति एक प्रकार की नहीं रहती किन्तु समयानुसार अनेक रङ्ग बदलती रहती है इस बात को वेश्या के दृष्टान्त से कहते हैं—

राजाओं की नीति कहीं सच्ची कहीं झूंठी, कहीं कठोर और कहीं मीठा बोलने वाली, कहीं हिंसा कराने वाली और कहीं दया कराने वाली, कहीं लोभ से भरी हुई और कहीं उदारता दिखाने वाली और बहुतसा व्यय कराने वाली और कहीं सञ्चय कराने वाली वेश्या के समान अनेकरूप धारण करती है

अर्थात्—समय के अनुसार जिस रीति से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि हो और प्रजा सुखी रहे वैसी नीति राजा लोगों को वर्त्तनी चाहिये ॥४७॥

विद्या कीर्त्तिः पालनं ब्राह्मणानां दानं भोगो मित्रसंरक्षणञ्च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण४८

(विद्येति) १ विद्यालाभ २ यशप्राप्ति, ३ ब्राह्मणों का पालन, ४ दान करना, ५ स्वयं पदार्थों को भोगना, ६ मित्रों की रक्षा करना ये छः गुण जिन में नहीं आये उन पुरुषों को राजा के यहां अधिकार पाने का क्या फल हुआ ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥

आशय यह है कि राज्य में अधिकार पाकर जिस मनुष्य ने उक्त ६ गुणों में से कुछ भी प्राप्त न किया उस के अधिकार को धिक्कार है इस लिये धर्मात्मा विचारशीलों को उचित है कि धर्म को आगे रखके चलते हुये राज्य में प्रवेश होने पर वहां सुगमता से होने योग्य विद्यादि का लाभ अवश्य करें ॥४८॥

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकंमहद् वा धनं
तत् प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ।

तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः—
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥४९॥

(यदिति) थोड़ा वा बहुत जो कुछ धनादि द्वारा सुख मिलना विधाता ने मस्तक में लिख दियाहै ऊषर भूमि में और सुमेर पर्वत पर जाने से भी वह न्यूनाधिक नहीं हो सकता—इस लिये धीरज धरो और धन वालोंके पास जाकर व्यर्थ याचना मत करो। क्योंकि देखो घड़ा कूप तथा समुद्र में से बराबर ही जल ग्रहण करता है कि जितना उन में समा सकता है॥

इस से कविने यह सूचित किया है कि गर्वित धनवानों के पास जाकर मांगना अत्यन्त नीचकर्म है—इसे छोड़ विशेष कर ब्राह्मणों को सन्तोष वा तप करना चाहिये जिस के द्वारा अत्यन्त सुख मिले ॥ ४९ ॥

त्वमेव चातकाधारोसीति केषां न गोचरः ?।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ? ॥५०॥

(त्वमिति) हे मेघवर ; यह बात कौन नहीं जानता कि तुम ही चातक पक्षियों के आधार हो। पुनः हमारे दीनवचनों की ओर क्यों निहार रहेहो— आश्रितों की आशा पूर्ण कीजिये ॥

तात्पर्य यह कि जो जिस के आधीन है उसे उचित है कि आश्रितों की दीन विनती के सुने बिना ही उन की पालना का ध्यान रक्खे क्योंकि जब उस को यह ज्ञात ही है कि अन्त में अधिक मांगने पर जब मुझ को देने ही पड़ेगा क्योंकि इन लोगों के निर्वाह का भार ही मुझ पर है तब विशेष मांगने पर उन को तंग करके देने की अपेक्षा बिना मांगे देने से मेरे गौरव की रक्षा विशेष है ऐसा होने पर आश्रित लोग मालिक का काम भी ठीक श्रद्धा भक्ति से—कर सकते हैं। यह मालिक को शिक्षा दी गयी है ॥ ५० ॥

रे रे ! चातक ! सावधानमनसा मित्र! क्षणं श्रूयता--
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽतु नैतादृशाः ।
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा--
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो माब्रूहि दीनं वचः ॥५१॥

(रे रे इति) अब याचक लोगों को पपीहा के बहाने से शिक्षा देते हैं

कि अरे पपीहा सावधानता से क्षणभर हमारा वचन सुनले—कि आकाश में बादल बहुत हैं—परन्तु सब समान नहीं हैं। उनमें कोई तो वर्षा से पृथ्वी को पूर्ण कर देते हैं और कोई २ वृथा ही गर्जते हैं। इस कारण हे मित्र! जिस जिसको तू देखता है उसी के आगे दीनता से जल के लिये मत पुकार॥

तात्पर्य यह है कि संसार में सब धनी दानशील नहीं होते कोई तो मांगने वालों को सन्तुष्ट कर देते हैं और कोई व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा करते हैं कि हम ऐसे हैं। इस कारण विचारशील याचकों को उचित है कि सब के सामने हाथ न पसारें किन्तु सन्तोषवृत्ति को धारण करें॥ ५१॥

इति द्रव्यप्रशंसा।

अथ दुर्जननिन्दा॥

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्॥

(अकरुणत्वमिति) दुष्ट मनुष्यों में निम्नलिखित ६ अवगुण स्वाभाविक होते हैं। १ निर्दयीपना। २ विना कारण बैर बांधना। ३ पर धन की इच्छा। ४ पराई स्त्री को चाहना। ५ सज्जनों की बात को न सहारना। और ६ कुटुम्ब की बड़ाई न देख सकना॥

सज्जन लोगों को ऐसे दुष्टों से सदा पृथक् रहना चाहिये अनेक लोग दुर्जन ऐसे होते जो ऊपर से बनावटी सज्जन दीखते हैं। तथा इन छः में किसी एक दो प्रबल अवगुण से भी दुर्जन ही माने जावेंगे॥

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥५३॥

(दुर्जनइति) यद्यपि दुर्जन मनुष्य विद्यावान् हो तो भी उस का त्याग करना उचित है क्योंकि मणि से भूषित सर्प क्या भय देने वाला नहीं होता अर्थात् अवश्य होता है॥

अर्थात् विद्या रहित हो तो भी सज्जन पुरुष के साथ सब को मेल रखना चाहिये किन्तु विद्वान् दुष्ट के भी साथ नहीं॥ ५३॥

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं—

शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे-
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः॥५४॥

(जाड्यमिति) दुष्ट लोग—लज्जावान् को शिथिल, व्रती को दम्भी, पवित्र को छली, शूरको दयाहीन, थोड़ा बोलने वाले को मूर्ख, मीठा बोलने वाले को दीन, तेजस्वी को अहङ्कारी, वक्ताको बकवादी और शान्तचित्त को निकम्मा कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि गुणियों के समस्त गुणों को दुर्जनोंने कलङ्क लगाया है॥

गुणी लोगों को चाहिये कि उन के गुणोंमें दुष्टपुरुष कितने ही कलङ्क लगावें तथापि अपने भूषणरूप गुणों का त्याग न करें॥ ५४ ॥

लोभश्चेदगुणेन किं? पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः?-
सत्यं चेत्तपसा च किं? शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्?॥
सौजन्यं यदि किं निजैः? सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः?-
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना? ॥५५॥

(लोभश्चेदिति) यदि मनुष्य में लोभ है तो और अवगुण हों वा न हों? जो निन्दक है उसे अन्य पाप करने की क्या आवश्यक्ता है? सत्यवादी को तप से क्या प्रयोजन? शुद्ध मन वाले को तीर्थों से क्या फल? सज्जनों को मित्र तथा कुटुम्ब वालों की क्या कमी है? जिनका यश फैल रहा है उन्हें अन्य भूषणों से क्या अर्थ है? जिन में सद्विद्या है उन्हें धन से क्या करना है? जिन का अपयश हो रहा है वे जीते ही मरे के समान हैं॥

अर्थात् जो लोभादि अवगुणों में सर्वोपरि प्रधान है वा जिस में लोभ है उस में मानो सभी अवगुण विद्यमान हैं इस लिये लोभादि बड़े२ दोषों को छोड़ना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है॥५५॥

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी-
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः॥
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो-

नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५६॥

(शशीति) महाराज श्रीभर्तृहरि जी कहते हैं कि ये ७ बातें हमारे मन में कांटे के समान दुःख देती हैं। १ दिन का मलीन चन्द्रमा । २ यौवन हीन नारी, ३ विना कमल का तालाब । ४ सुरूपवान् अविद्वान् । ५ राजा धनका लोभी । ६ निर्धन सत्पुरुष । ७ राजसभा में दुष्टों का रहना ॥

अर्थात् मनुष्यों को ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिस से ये अनुचित सातों बातें न हों वा कम हों ॥५६॥

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।

होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥५७॥

(न कृति) जैसे अग्नि होम करने वाले को भी छूने से जला ही देता है वैसे ही प्रबल क्रोधी राजाओं का भी कोई मित्र नहीं होता ॥

अर्थात् राजा और अग्नि का विश्वास किसी को कभी न करना चाहिये यह नीति का विचार साधारण संसारी मनुष्यों के लिये है किन्तु चोरी की शपथ में सत्य अग्नि से भी बचाता तथा उत्तम ईश्वर भक्तों को भी अग्नि नहीं जला सकता यह युक्ति प्रमाण दोनों से सिद्ध हो जायगा । जैसे सीता माता का अग्नि में प्रवेश हुआ पर नहीं जलीं वैसे ही प्रह्लादादि को जानो यह उत्तम कोटि के विशेष (खास) देह धारियों के लिये समाचार है ॥५७॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा-

धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः-

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥५८॥

(मौनादिति) सेवक–चुप रहने से गूंगा, चतुराई के साथ बोलने से बात-ला, या बकवादी, पास रहने से ढीठ, दूर रहने से निर्बुद्धि क्षमा करने से डरपोक, और न सहारने से नीचकुल का समझा जाता है–इस से प्रतीत होता कि सेवाधर्म ऐसा कठिन है कि योगियों से भी निभना असाध्य है ॥

अर्थात् स्वामी जो २ दोष बतावे उनको विना उत्तर दिये मानता जाय और सदा स्वामी का हितचिन्तन करता रहे यही सेवक का धर्म है। ऐसा

सेवक जगत् में कोई विरला ही हुआ करता है और जो ऐसा होता है उस को अच्छी सिद्धि भी अवश्य प्राप्त हो जाती है ॥ ५८ ॥

उद्भासिताऽखिलखलस्य विशृङ्खलस्य,
प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणाद्विषोऽस्य,
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ? ॥५९॥

(उद्भासितेति) जो अनेक दुष्टों को उभारने वाला, किसी को न मानने वाला, जिस के अपने किये पूर्वजन्म के बहुत नीचकर्म प्रकट हो रहे हैं, दैवानुसार धन वाला भी है और सद्गुणों से वैर रखने वाला है इस प्रकार के नीच मनुष्य के वश में वा पास रहकर कोई पुरुष सुखी नहीं रह सकता ॥

अर्थात् धन वा राज्यादि उत्तम सामान की प्राप्ति के लोभ से भी ऐसे दुष्ट पुरुष का सेवन विचारशील धार्मिक मनुष्य को कदापि न करना चाहिये॥५९॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ६०

(आरम्भेति) जैसे दुपहर के पहिले की प्रथम छाया बड़ी होती फिर क्रमशः घटती जाती है वैसे ही दुर्जन की मित्रता जानो । और दुपहर के उपरान्त की छाया के समान सत्पुरुषों की मित्रता प्रथम बहुत छोटी और पुनःक्रमशः बढ़ती जाती है ॥

इस से सज्जनों के साथ मित्रता करनी चाहिये जो प्रतिदिन बढ़ती रहे किन्तु दुष्टों के साथ नहीं । चाहें यों जानलो कि दुर्जन और सज्जनों का यही लक्षण है कि जिन की मित्रता घटती जाय वे दुर्जन और जिन की मैत्री आगे २ बढ़े वे सज्जन हैं ॥ ६० ॥

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥६१॥

(मृगेत्यादि) मृग, मछली और सत्पुरुष ये तीनों विना किसी को सताये घास, जल और सन्तोष से अपना २ जीवन व्यतीत करते हैं । परन्तु व्याध धीमर [मछली मारने वाले] और दुर्जन इन से विना कारण ही वैर र-

सते हैं ॥ अर्थात् व्याध और धीमर के तुल्य दुर्जन वा चुगुल को भी नीच पापी समझना चाहिये ॥ ६१ ॥ इति दुर्जननिन्दा ॥

अथ सुजनप्रशंसा ॥

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता–
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले–
येष्वेते निवसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥६२॥

(वाञ्छेति) जिन पुरुषों में ये गुण हैं उन को हमारा प्रणाम है –सत्सङ्ग में रुचि, पराये गुणों में प्रेम, बड़े लोगों से नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी ही स्त्री में रमण, लोकनिन्दा का भय, ईश्वर में भक्ति, मन के रोकने की शक्ति, और खोटे सङ्ग का त्याग ॥

ऐसे गुण संसारी मनुष्य के लिये विशेष कर भूषण हैं पर परमार्थी पुरुष को अपनी स्त्री क्या किसी में भी व्यसन नहीं हो सकता किन्तु वह सभी से उदासीन रहे तभी परमार्थ हो सकेगा ॥ ६२ ॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधिविक्रमः।
यशसिचाभिरुचिर्व्यसनंश्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदंहिमहात्मनाम्६३

(विपदीति) १ विपत्ति में धीरज, २ अपनी वृद्धि में क्षमा, ३ सभा में वाणी की चतुराई, ४ युद्ध में पराक्रम, ५ यश में इच्छा, ६ शास्त्र में व्यसन ये छः गुण महात्मा लोगों में स्वभाव से ही सिद्ध होते हैं ॥

ऐसे गुण स्वभाव से ही जिन में हों उन को महात्मा जानो इस से जो महात्मा बनना चाहे वह ऐसे गुणों के सेवन के लिये अत्यन्त उद्योग करे॥६३॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः–
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः–
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥६४॥

(प्रदानमिति) दान प्रकट न करना, घर में आये हुये मनुष्य का आ-

दूर करना, भलाई करके मौन रहना, दूसरे के उपकार को सभा में कहना, धन पाकर अभिमान न करना और दूसरे की चर्चा में उस की बुराई को बचाकर कहना यह तलवार की धार के समान कठिन नियम सत्पुरुषों को किस ने सिखाया है ? किन्तु किसी ने नहीं, स्वाभाविक ही है ॥

ऐसे काम करके मनुष्यों को सज्जन बनना चाहिये ॥ ६४ ॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनम्-
मुखे सत्या वाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुलम् ॥
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं-
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥६५॥

(करे इति) सुपात्र को दान देने से हाथ, बड़ों के चरणों में झुकाने से शिर, सत्य कहने से मुख, बड़े पराक्रम से दोनों बाहु, शुद्धवृत्ति से हृदय और शास्त्र के श्रवण से कान श्लाघनीय (बड़ाई के योग्य) होते हैं ॥

मनुष्य को दान आदि शुभ कर्म के सेवन से हाथ आदि की शोभा बढ़ा के संसार में अतुल कीर्त्ति प्राप्त करने के लिये उत्साह के साथ उद्योग करना चाहिये ये सब दैवी सम्पत्ति के चिह्न हैं ॥ ६५ ॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
विपत्सु च महाशैल शिलासङ्घातकर्कशम् ॥६६॥

(सम्पत्स्विति) महात्मा लोगों का चित्त सम्पदा में कमल से भी कोमल और विपत् समय में पर्वत की बड़ी शिला के समान कठिन हो जाता है ॥

अर्थात् विचारशील सुख चाहने वाले मनुष्य को उचित है कि ज्यों २ धन सम्पत् बढ़ती जाय त्यों २ नमता जाय और विपत्ति में कठोरता धारण करे तो उस को संसार के दुःख बहुत कम व्यापेंगे और सदा प्रसन्न सन्तुष्टचित्त रहेगा ॥ ६६ ॥

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते ।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ॥
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते ।
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥ ६७ ॥

(सन्तप्तायसीति) तपे हुये लोहे पर जल की बूंद गिरे तो उस का नाम भी नहीं रहता; वही बूंद कमल के पत्ते पर गिरी हुई मोती के समान शोभित होती है, पुनः वही बूंद स्वातिनक्षत्र में समुद्र के बीच में पड़कर मोती ही बन जाती है, इस से यह सिद्ध हुआ कि अधम, मध्यम और उत्तम गुण प्रायः सङ्ग से होते हैं ॥

इस लिये संसार में दुःख विपत्तियों से बचकर सुख चाहने वाले मनुष्य को सज्जन महात्मा विद्वान् का सङ्ग करना चाहिये ॥ ६७ ॥

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो ।
यद्भर्त्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ॥
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद् ।
एतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥ ६८ ॥

(य इति) जो अपने अच्छे कामों द्वारा पिता को प्रसन्न रक्खे ऐसा पुत्र—जो सर्वदा अपने भर्त्ता का हित चाहे, ऐसी स्त्री—और जो सुख तथा दुःख में बराबर सहायक रहे ऐसा मित्र—ये तीनों जगत् में उस मनुष्य को मिलते हैं जिस का पूर्वकाल में बड़ा पुण्य किया होता है ॥

जो अपने पिता की सेवा वा यथावत् आज्ञा पालन करेगा उस के सन्तान भी उस के साथ वैसा करेंगे। इस कारण जो अपना हित चाहता है वह दूसरों का हित करे क्योंकि कूप आदि में से शब्द की वैसी ही प्रतिध्वनि होती है जैसा शब्द बोला हो तदनुसार जैसा करोगे वैसा ही फल तुम को मिलेगा॥६८॥

एको देवः केशवो वा शिवो वा, एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ।
एको वासः पत्तने वा वने वा,एका नारी सुन्दरी वा दरीवा॥६९॥

(एक इति) एक देवता को स्वीकार करना चाहिये चाहे विष्णु हो वा शिव—एक मित्र बनाना चाहिये चाहे राजा हो वा संन्यासी—एक जगह रहना चाहिये चाहे नगर हो वा वन और एक से प्रीति करे चाहे सुन्दरी स्त्री हो वा पर्वत की कन्दरा हो ॥

जगत् में संसार और परमार्थ दो ही मार्ग हैं जिसमें रहना चाहे उस की पूरी सामग्री संचित करे और पूरा उपाय करे इस से कवि ने यह बात भी इंगित चेष्टा से दिखायी है कि यद्यपि विष्णु और शिव जी दोनों ही देवता की

उपासना पूजा संसार परमार्थ दोनों की सिद्धि के लिये सामान्य तया कर्तव्य है तथापि संसारी सुख चाहने के लिये विष्णु भगवान् की पूजा उपासना विशेष उपकारी है तथा परमार्थ सिद्धि के लिये शिव जी की भक्ति विशेष कार्य साधक है ॥ ६९ ॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः ।
स्वार्थान् सम्पादयन्तो विततप्रिथतरारम्भयत्नाः परार्थे ॥
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्जनान् दूषयन्तः ।
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः? ॥७०॥

(नम्रत्वेनेति) जो सत्पुरुष नम्रता द्वारा ही ऊंचे होते हैं, पराये गुणों के वर्णन से अपने गुण प्रसिद्ध करते हैं, पराये कार्यसिद्ध करने से अपने कार्यों को सम्पादन करते हैं और कठोर वाक्यों से बुराई करने वाले दुष्टों को अपनी क्षमा से ही वे दूषित करते हैं ऐसे आश्चर्य कर्म करने वाले महात्माजन इस जगत् में सब के पूजनीय होते हैं ॥

जिन को इष्ट हो कि सब कोई हमारी प्रशंसा करे उन को उचित है कि ऐसे नम्रतादि गुणों को धारण करें ॥ ७० ॥

भवन्तिनम्रास्तरवःफलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनोघनाः।
अनुद्धताःसत्पुरुषाः समृद्धिभि स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ७१

(भवन्तीति) जैसे फलों से लदे हुये वृक्ष झुक जाते हैं और नवीन जल से भरे हुये मेघ पृथिवी की ओर नमते हैं—वैसे ही सज्जन भी ऐश्वर्य पाय के नम्र हो जाते हैं क्योंकि यह परोपकारियों का स्वभाव ही है ॥

वृक्षादि का दृष्टान्त लेकर सज्जनों को चाहिये कि ऐश्वर्य पाकर नम्रता धारण करें जो नम्र नहीं बनते क्रूरता धारण करते हैं वे सज्जन भी नहीं हो सकते। और सज्जनों के हृदय में जो सुखानुभव उन को अपनी सज्जनता के कारण होता है उसे दुर्जन लोग कदापि नहीं जान पाते ॥ ७१ ॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्नतु चन्दनेन ॥७२॥

(श्रोत्रमिति) कानों की शोभा सच्छास्त्रों के श्रवण से है कुण्डल पहरने

से नहीं, हाथों की शोभा दान करने से है कंगन धारण करने से नहीं, और दयावान् पुरुषों के शरीर की शोभा परोपकार करने से है, चन्दन आदि सुगन्ध लगाने से नहीं है ॥

यहां कुण्डल, कङ्कण पहनने और चन्दन लगाने का निषेध नहीं है किन्तु कुण्डलादि की अपेक्षा शास्त्राध्ययनादि को अत्यन्त उत्तम समझना चाहिये। अर्थात् केवल कुण्डलादि की अपेक्षा केवल शास्त्राध्ययनादि को सर्वोत्तम जानो यदि दोनों ही भूषण हों तो सुवर्ण में सुहागा के तुल्य है ॥७२॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय-
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले-
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७३॥

(पापादिति) मित्र को पाप करने से रोकता, और उस के हित का उपदेश करता, छिपाने योग्य बातों को छिपाता, गुणों को प्रकट करता, विपत्ति समय में मुख नहीं मोड़ता और अवसर पड़े पर यथाशक्ति धन देता है-ये लक्षण महात्मा लोगों ने अच्छे मित्रों के कहे हैं ॥

अर्थात् जिनके साथ मित्रता करें उनको पापसे बचाना आदि ही श्रेष्ठमित्रताका स्वरूप है किन्तु सामने प्रिय बोलदेनामात्र मित्रका लक्षण नहीं है॥७३॥

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति ।
चन्द्रो विकाशयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति-
सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभियोगाः ॥७४॥

(पद्माकरमिति) जैसे सूर्य विना प्रार्थना किये ही कमल को खिलाता है, चन्द्रमा भी कुमुदिनी के समूह को स्वयं प्रफुल्लित करता है, और मेघभी विना मांगे ही जल वर्षाता है वैसे ही सत्पुरुष भी विना कहे ही परोपकार करने में तत्पर रहते हैं ॥

याचना किये पर परोपकार करना मध्यम है और विना प्रेरणा के दूसरों का हित करना सर्वोत्तम काम है। इस लिये ऐसा उत्तम काम करके सज्जन कहाने का उद्योग करना चाहिये ॥७४॥

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये-
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के ? न जानीमहे ॥७५॥

(एत इति) इस जगत् में उत्तम पुरुष वे हैं जो स्वार्थ को त्याग कर पराया कार्य सिद्ध करते हैं । साधारण मनुष्य वे हैं जो अपना काम न बिगाड़ कर दूसरों का हित करते हैं, मनुष्यों में राक्षस पुरुष वे हैं जो अपने अर्थ के लिये दूसरे का कार्य नष्ट कर देते हैं और जो बिना प्रयोजन दूसरे का काम बिगाड़ते हैं उन का नाम हम भी नहीं जानते कि वे कौन हैं ? ॥

इन में से उत्तम मध्यम निकृष्ट वा महानिकृष्ट जैसा काम करेगा वैसा फलभागी मनुष्य होगा । इस लिये जिन को सत्पुरुष वा उत्तम कोटि का मनुष्य बनना हो वे स्वार्थ छोड़ कर परोपकार करें ॥७५॥

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिला-
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदम्-
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥७६॥

(क्षीरेणेति) दुग्ध ने अपने साथ मिले हुए जलरूपी मित्र को अपना सब गुण और रूप दे दिया-फिर दूध को जलता देख मानो उस की रक्षा के निमित्त जल ने अपने को अग्नि में फेंक डाला-अर्थात् उबल पड़ा-पुनः दूध ने भी मित्र को इस विपत्ति में देख स्वयं अग्नि में गिरना चाहा-परन्तु जल के छींटे पाय के अपने मित्र को आया समझ कर ठण्ढा हो गया सो यथार्थ है सज्जनों की मित्रता इसी प्रकार की होती है ॥

अर्थात् संसार में जिन को सुखी रहना हो वे ऐसी मित्रता धारण करें ॥७६॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्त्तकै-

रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥७७॥

(इत इति) समुद्र में एक ओर शेष पर विष्णु जी सो रहे हैं—एक ओर दैत्यसमूह निवास करता है—और एक ओर शरण चाहने वाले पर्वतों के समुदाय पड़े हैं—और एक ओर प्रलय के अग्नियों को लिये वड़वानल धकधका रहा है—आश्चर्य है कि इतने पर भी समुद्र का महान्, पराक्रमी और भार सहारने वाला शरीर अचल और निष्कम्प है ॥

इसी प्रकार अनेक बड़े कार्यों के भार और नानाप्रकार के विघ्न उपस्थित रहने पर भी धैर्यवान् गम्भीर धीरवीर महान् पुरुषों को कभी व्याकुल न होना चाहिये वा यों कहो कि जो ऐसे हों वे ही महान् पुरुष कहे वा माने जाते हैं ॥ ७७ ॥

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः—
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्—
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥७८॥

(तृष्णामिति) तृष्णा को काटो, क्षमा को धारण करो, मद को दूर करो, पाप में प्रीति मत करो, सच बोलो, सज्जनों के मार्ग पर चलो, विद्वानों की सेवा करो, मान्य पुरुषों का सत्कार करो, शत्रुओं को भी प्रसन्न रक्खो, अपने गुणों को प्रसिद्ध करो, यश का पालन करो, और दुःखियों पर दया रक्खो—ये सत्पुरुषों के लक्षण हैं ॥

अपना भला चाहने वाले मनुष्य को ऐसे काम अवश्य करने चाहिये जिस से सत्पुरुष कहावे सब कोई प्रतिष्ठा करे सुखी रहे ॥ ७८ ॥

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं—
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥७९॥

(मनसीति) ऐसे महात्मा जगत् में विरले ही हैं जिन के वचन और शरीर में पवित्रता भरी है; और जो परोपकार से तीनों भुवनों को तृप्त करने

वाले, और पराये छोटे से गुणों को भी बड़ा मानकर अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले हैं ॥

जगत् में सुख चाहने वाले मनुष्य को मन वाणी और शरीर से सदा धर्म करना उचित है ॥ ७९ ॥

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा-
यत्राश्रितास्तरवस्तरवस्त एव ।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण-
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥८०॥

(किमिति) उस सुमेरु और कैलाश पर्वत की काहे की बड़ाई है कि जिस के आश्रित वृक्ष जैसे के तैसे ही बने हैं। किन्तु हम तो मलय पर्वत को उत्तम गिनते हैं कि जहां कङ्कोल और नीब आदि कड़ुए वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।

अर्थात् जिस धर्मात्मा विद्वान् वा धनी आदि की शरण में रहने वाले धर्मात्मा विद्वान् वा धनी आदि न हो जायं तो उस धर्मात्मादि की प्रशंसा नहीं है किन्तु जो अधर्मी को धर्मात्मा, मूर्ख को विद्वान् तथा निर्धन को धनवान् अपना जैसा करदे उस की प्रशंसा विशेष करनी चाहिये ॥ ८० ॥

अथ धैर्यप्रशंसा

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा, न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं, न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ८१

(रत्नैरिति) देवताओं ने यद्यपि समुद्र में से अनेक अमूल्य रत्न पाये तौ भी समुद्र का मथना न छोड़ा और भयङ्कर विष से भी डर कर अपना मनोरथ नहीं त्यागा—विना अमृत निकाले उस कार्य को नहीं छोड़ा—इस से सिद्ध होता है कि धीर लोग सुनिश्चित को विना सिद्ध किये नहीं ठहरते ॥

अर्थात् जिस वस्तु की विचारशील मनुष्य इच्छा करे उस को प्राप्त किये विना कदापि सन्तोष न करना चाहिये । उस के बदले अन्य कुछ भी प्राप्त हो उस से भी अपनी कार्यसिद्धि न माने कितने ही दुःख वा विघ्न पड़ें तौ भी सब सह को सहकर अभीष्ट को सिद्ध करे इस गुण के धारण से मनुष्य की कुलपरम्परा में आलस्य का त्याग और पुरुषार्थ करने की शक्ति का मिल-

मिक्षा जारी हो जाता है जिस से मनुष्य दुःख नहीं पाते । जिस देश में ऐसे मनुष्य अधिक होते हैं उसी की उन्नति धनधान्यादि से ठीक२ होजाती है॥८१॥

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्य्यङ्कशयनं,
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्य्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्॥८२॥

(क्वचिदिति) कहीं भूमि को बिछौना करते, कहीं पलँग पर सोते, कहीं साग खाके निर्वाह करते, कहीं चावल आदि उत्तम पदार्थों का भोजन करते कहीं कपड़ी गुदड़ी धारण करते, और कहीं सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं । इस प्रकार कार्यसिद्धि की चाह करनेवाले विचारशील लोग सुख और दुःख नहीं गिनते ॥

विचारशील पुरुष को सब प्रकार के सुख दुःख भोग कर भी कार्य सिद्ध करलेने चाहिये यही मनुष्य का खास मनुष्यपन है परन्तु वह काम धर्म विरुद्ध न हो किन्तु धर्मानुकूल हो उस के प्राप्त करने में कष्ट तथा दुःख का भय न करे ॥ ८२ ॥

ऐश्वर्य्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्य्यस्य वाक्संयमो-
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता-
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ ८३ ॥

(ऐश्वर्यस्येति) ऐश्वर्य की शोभा सुजनता, शूरता की वाक्संयम (बढ़कर न बोलना) ज्ञान की शान्ति, विद्या की नम्रता, धन की सुपात्र को देना, तपकी क्रोध न करना, प्रभुता की क्षमा और धर्म की शोभा छल रहित होना है । परन्तु शील सब गुणों की शोभा है ॥

इसलिये शुद्ध निष्कपट सरल स्वभाव का धारण करना सर्वोपरि मनुष्य का परम कर्त्तव्य काम है अपना परमहित चाहने वाला इसे कदापि न भूले८३

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु-
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा-

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८४॥

(निन्दन्त्विति) नीतिज्ञ लोग चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति और धन आदि पदार्थ चाहे घर में आवें चाहे नष्ट हो जावें और चाहे आज ही प्राणान्त हो वा कल्पान्तर में परन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग को त्याग कर एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते ॥

इसलिये निन्दा स्तुति आदि सब दशाओं में मनुष्य को धर्म से विरुद्ध किञ्चित् भी न चलना चाहिये । यही सर्वोत्तम कल्याण का मार्ग है ॥ ८४ ॥

अथ प्रारब्धप्रशंसा ॥

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा-
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा-
लोकाः!पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥८५॥

(भग्नाशस्येति) एक सर्प पिटारे में बंद था और क्षुधा से व्याकुल था इसी से उस ने अपने जीवन की आशा छोड़ दी थी परन्तु दैवयोग से रात्रि में एक मूसा उस पिटारे में छिद्र करके सर्प के मुख में जा गिरा जिस के मांस से सर्प तृप्त हो कर उसी छिद्रद्वारा बाहर निकल गया । सो हे लोगो ? देखो प्रारब्ध ही मनुष्यों की बढ़ती तथा घटती में कारण है ॥

नियम से फल देने वाले पूर्व किये शुभाशुभ कर्मों का सुख दुःख रूप फल नियत समय पर प्राणियों को अवश्य प्राप्त होता है । इस लिये मनुष्य को भविष्यत् में कल्याण होने की आशा से शुभकर्म का सेवन अवश्य करनाचाहिये८५

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः-
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥८६॥

(पातित इति) जैसे हाथ की ताड़ना से नीचे गिराया हुआ गेंद फिर ऊपर उछलता है वैसेही सत्पुरुषों की विपत्तियां प्रायः स्थिर नहीं रहतीं हैं॥

इस लिये सत्पुरुषों को विपत्तिसमय में घबड़ाना नहीं चाहिये यह नियमहै कि जो विपत्ति पहिले से न थी इसी से आगे भी न रहेगी तब अनित्य कष्ट को सहन कर लेने से दुःख भी कम जान पड़ता है ॥ ८६ ॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥८७॥

(आलस्यमिति) आलस्य मनुष्यों के देह में परमशत्रु है और उद्यम के समान दूसरा कोई मित्र नहीं कि जिस के करने से मनुष्य कभी दुःखित नहीं होता ॥

इस लिये आलस्य को त्याग कर सदा पुरुषार्थ करना उचित है ॥८७॥

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके ॥८८॥

(छिन्न इति) काटा हुआ वृक्ष काल पाकर फिर बढ़ता और फैलता है तथा क्षीण हुआ चन्द्रमा भी फिर२ वृद्धि को प्राप्त हो कर पूर्ण हो जाता है ऐसा विचारते हुए बुद्धिमान् जन विपत्काल में घबड़ाते नहीं ॥

सुख के पीछे दुःख और दुःख के पश्चात् सुख पारा पारी गाड़ी के पहिये के समान आता जाता बना रहता है इस लिये दुःख में घबड़ाना नहीं चाहिये मान लेना चाहिये, कि जैसे रात के बाद नियम से दिन ही हुआ करता है अन्यकुछ नहीं होता और न सदा रात ही रहती है वैसे दुःख के बाद फिर भी सुख ही होगा ॥८८॥

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः—
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद् भग्नः परैः सङ्गरे—
तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथापौरुषम् ॥८९॥

(नेतेति) जिस इन्द्र के यहां बृहस्पति मन्त्री, वज्र शस्त्र, देवताओं की सेना, स्वर्ग दुर्ग (गढ़), विष्णु की कृपा वा सहायता और ऐरावत हस्ती वाहन (सवारी) ऐसे आश्चर्यरूप बल से युक्त भी इन्द्र युद्ध में शत्रुओं से हार गया—इस से यही सिद्ध होता है कि प्रारब्ध ही सब बातों का कारण है और पुरुषार्थ को धिक्कार है ॥

किसी अंश में कभी कहीं प्रारब्ध कर्म बलवान् होता है तो उस से विरुद्ध किया पुरुषार्थ सफल नहीं होता । इस लिये कार्य सिद्धि न होने पर म-

नुष्य को शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि नियत विपाक कर्मों का यह नियम ही है कि वह अपने नियत समय वैसा प्रभाव दिखाये विना टल नहीं सकता । और यदि कहीं कभी किसी खास कारण से टल भी जाय [जैसे सावित्री के पातिव्रत धर्म के प्रभाव से सत्यवान् का मृत्यु टल गया] तो वहां सत्यवान् का मृत्यु इसी प्रकार टल जाना भी नियत ही जानो अथवा किसी अंश में अपवाद उत्सर्ग का बाधक भी होजाय तो उस के उत्सर्गपन की कुछ हानि नहीं होती ॥८९॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया कार्यं कर्त्तव्यं सुविचारतः ॥ ९० ॥

(कर्मायत्तमिति) यद्यपि मनुष्यों को अपने २ कर्म के अनुसार ही फल मिलता है तथा बुद्धि भी कर्मों के अनुसार ही होती है तो भी बुद्धिमान् को चाहिये कि विचार पूर्वक ही काम करे ॥

क्यों कि प्रारब्ध के अनुकूल किया पुरुषार्थ तो विशेष फलदायक होगा ही । और सर्वत्र प्रारब्ध बलवान् भी नहीं रहता अनियत विपाक कर्म साध्य वा कष्टसाध्य रोग के तुल्य पुरुषार्थरूप औषध से निवृत्त हो ही जाते हैं । इस लिये पुरुषार्थ करना सब दशा में उत्तम है ॥९०॥

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके-
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्याशु महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः-
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥ ९१ ॥

(खल्वाट इति) खल्वाट [गञ्जा] पुरुष शिर में सूर्य की किरणों से तपाया हुआ, छाया की इच्छा करके प्रारब्ध वश से किसी ताड़ वृक्ष के नीचे आ रहा—वहां भी उस वृक्ष का बड़ा फल शीघ्र गिरने से उस का शिर फूट गया—इस से यह सिद्ध हुआ कि भाग्यहीन पुरुष जहां २ जाता है विपत्तिभी उस के सङ्ग ही सङ्ग जाती है ॥

ऐसे अवसर में नियत विपाकरूप प्रारब्ध कर्म को विशेष बलवान् समझना चाहिये जैसे असाध्य रोग पर कोई दवा नहीं चलती वैसे नियत विपाक कर्म को भी पुरुषार्थ नहीं टाल सकता ॥९१॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानितिमेमतिः ॥

(शशीत्यादि) चन्द्रमा और सूर्य को राहु से ग्रसित देख कर, हस्ती और सर्प को भी बन्धन में पड़े देख तथा बुद्धिमान् मनुष्यों को दरिद्री देख मेरी समझ में यही निश्चय होता है कि प्रारब्ध ही बलवान् है ॥

प्रारब्ध के बलवान् कहने से यह अभिप्राय नहीं है कि निरुद्योगी बन जाओ किन्तु प्रयोजन यह है कि जैसे निकृष्ट कर्मों का फल दुःख अवश्य ही भोगने पड़ता है वैसे शुभ कर्मों का भी फल सुख अवश्य मिलेगा । ऐसा विश्वास रख कर सदा अच्छे काम करने चाहिये प्रारब्ध की प्रबलता आस्तिकों की आस्तिकता को पुष्ट करने के लिये मानना चाहिये । और जो लोग ऐसे कथन देख कर आलसी निरुद्योगी बन जाते हैं यह दोष उन्हीं लोगों का है किन्तु शास्त्र का यह मतलब नहीं है ॥९२॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह ! कष्टमपण्डितता विधेः? ॥

(सृजतीति) विधाता किसी प्रसिद्ध नामी विद्वान् पुरुष को सब गुणों का भण्डार और भूमि का एकमात्र भूषण बनाता है—परन्तु जो उस का शरीर क्षणभङ्गुर कर देता अर्थात् अधिक जीवित नहीं रखता यह अति शोक का स्थल है इसी से विधाता की मूर्खता प्रतीत होती है ॥

यहां विधाता ईश्वर को दोष लगाने से कवि का प्रयोजन नहीं है किन्तु कर्म की प्रबलता के प्रसङ्ग में प्रारब्ध को प्रधान ठहराने से तात्पर्य है कि प्रारब्ध के अनुसार ही अच्छे पुरुषों का भी अधिक जीवन नहीं रहता ॥९३॥

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्—
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ? ॥९४॥

(पत्रमिति) यदि करील वृक्ष में पत्ते नहीं लगते तो इस में वसन्तऋतु का क्या दोष ? यदि दिन में उल्लू को नहीं दीखता तो इस में सूर्य का कौन

दोष ? और जो चातक के मुख में बूंद न गिरे तो इस में मेघ का क्या अप-राध है ? इस से यह सिद्ध होता है कि जो कुछ विधाता ने मस्तक में लिख दिया है उसे कोई भी नहीं मेट सकता ॥

सञ्चित कर्म वासनारूप से शिर में रहते हैं [क्योंकि विचार शक्ति का मुख्यस्थान शिर है इसी कारण शिर में विशेष गर्मी चढ़ जाने से उन्माद रोग होजाता है] उन्हीं वासनारूप कर्मों के अनुसार फल प्राप्त होते हैं ॥ ९४ ॥

॥ कर्म प्रशंसा ॥

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा-
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना-
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ ९५॥

(नमस्याम इति) देवताओं को बड़ा समझकर हम नमस्कार नहीं करते क्योंकि वे भी विधाता के आधीन हैं—विधाता को भी नमस्कार हम नहीं क-रते क्योंकि वह भी हमारे नियत कर्मों का ही फल दे सकता है । जब फल कर्माधीन है तो देवता और विधाता इस में क्या कर सकते हैं ? इस लिये कर्मों को ही नमस्कार है कि जिन के लौटपौट करने में विधाता भी समर्थ नहीं है ॥

यहां देवता वा परमेश्वर को असमर्थ ठहराने से प्रयोजन नहीं किन्तु म-नुष्य के लिये कर्म को सर्वोपरि प्रधान ठहराने का प्रयोजन है कि जैसे कर्म करेगा वैसा फल अवश्य पावेगा इसलिये सदा शुभकर्म करने चाहियें ॥ ९५ ॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे-
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटको भिक्षाशनं कारितः-
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥९६॥

(ब्रह्मेति) जिस कर्म के प्रभाव से ब्रह्मा जी निरन्तर कुम्हार की नाईं जगत् रचना में लगे ही रहते हैं—और विष्णु भगवान् भी बार २ अवतार

लेने में परवश हैं, रुद्र [शिव जी] हाथ में खप्पर लेकर भिक्षा मांगने में तत्पर हैं, सूर्यदेव नित्य आकाश में घूमते रहते हैं उस प्रबल कर्म को हमारा प्रणाम है ॥

जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूप करने में परमेश्वर भी नियत है और उत्पत्ति आदि कर्म के यथावत् करने से ही परमेश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् माना जाता है अर्थात् सब ही की बड़ाई और छोटाई कर्म के आधीन है तो मनुष्य को बड़ा होने की इच्छा से बड़े २ कर्म अवश्य करने चाहिये ॥ ९६ ॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं-
विद्याऽपि नैव न च यत्नकृताऽपि सेवा ।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि-
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ ९७ ॥

(नैवेति) मनुष्य के लिये सुन्दर रूप, अच्छा कुल, शील, विद्या और प्रयत्न से की हुई सेवा कुछ फलदायक नहीं होती केवल पूर्वतप से सञ्चित किये कर्म ही मनुष्य को समय पर वृक्ष की नाईं (भांति) फल देते हैं ॥

इस कारण सुन्दर रूप आदि को सुख का हेतु कोई मत समझो किन्तु धर्मानुकूल कर्म ही सुख का हेतु है इस लिये सदा शुभकर्म करो ॥ ९७ ॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥९८॥

(वन इति) वन में, युद्ध में, शत्रुओं में, जल और अग्नि में, बड़े समुद्र में और पर्वत की चोटी पर सब स्थानों में सोते हुए, असावधान तथा सङ्कट की दशा में पड़े हुये भी पूर्वकृत पुण्य (कर्म्म) ही मनुष्य की रक्षा करते हैं॥

इस लिये मनुष्य को सदा पुण्य का सञ्चय करना चाहिये ॥ ९८ ॥

या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणः-
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं-
हे साधो! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः॥९९॥

(येति) जो सुकर्म बुरों को अच्छा करदेता है और मूर्खों को विद्वान्

शत्रुओं को मित्र, गुप्त को प्रकट तथा विष को अमृत बना देता है उस भग वतीरूप सत्क्रिया का आराधन [सेवन] करो। हे सज्जनो ! यदि वाञ्छित फल के भोगने की वाञ्छा है तो बहुत से गुणों की इच्छा छोड़ कर केवल सुकर्म करो ॥ ९९ ॥

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ-
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१००॥

(गुणवदिति) बुद्धिमान् मनुष्य को उचित है कि योग्य वा अयोग्य जिस कार्य का आरम्भ करे प्रथम उस के परिणाम को ध्यान देकर प्रयत्न से विचार ले-क्योंकि विना विचारे अतिशीघ्रता से किये बुरे काम का निकृष्ट फल मरणपर्यन्त हृदय में कांटे के समान चुभता रहता है ॥

ऐसा विचार प्रायः कामों में करना उचित है किन्तु सर्वत्र नहीं। कोईर काम ऐसे भी होते हैं जिन को विना विचारे शीघ्र तत्काल ही कर डालना चाहिये। वहां सोच विचार में देर लगाने से बड़ा दुःख वा हानि भोगनी पड़ती है जो विचार पूर्वक परिणाम को सोच कर काम करना यह उत्सर्ग है और अपने मार डालने को सामने आता हो उसे विना विचारे (हन्यादेवाविचारयन्) के अनुसार मार दे यह अपवाद है ॥

स्थाल्यां वैडूर्यमय्यां पचति तिलकणान् चन्दनैरिन्धनौघैः-
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ।
छित्त्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्-
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः१०१

(स्थाल्यामिति) जो मन्दभाग्य मनुष्य इस मनुष्य शरीर को पाकर तप आदि सुकर्म नहीं करता उसे उस महामूर्ख के समान जानो जो चन्दन के ईन्धन से वैडूर्य मणि के वर्त्तन में तिल के फटकन्-छिलकों को पकाता है वा आक [वृक्ष] की जड़ निकालने के निमित्त सुवर्ण के हल से पृथ्वी को जोतता है अथवा कपूर के टुकड़ों को काटकर कोदों के चारोंओर बाड़ बनाता है॥

अर्थात् मनुष्य शरीर पाकर अमूल्य रत्नरूप पुण्य का सञ्चय सब को करना चाहिये । जो ऐसा नहीं करता वह व्यर्थ ही जन्म गमाता है मनुष्य सदाही सुख चाहता और जानता भी है कि शुभ कर्म के सेवन से ही सुख मिल सकता है तथा शुभ कर्म करना भी चाहता है परन्तु प्रमादरूप मद्य के नशा में बेहोश रहता हुआ कुछ नहीं कर पाता ॥१०१॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे—
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला विद्याः कलाः शिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं परं—
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाग्यस्य नाशः कुतः ॥१०२॥

(मज्जत्विति) चाहे मनुष्य समुद्र में मोतियों के लिये गोता लगावे, अथवा सुमेरु पर्वत के शिखर पर जा चढ़े (सुवर्ण के निमित्त) चाहे संग्राम में शत्रुओं को जीते, चाहे वणिज खेती आदि सब विद्या तथा कलाओं को सीख लेवे चाहे पक्षी के समान आकाश में उड़ता फिरे परन्तु अनहोनी नहीं होती और जो होनहार है वह मिटती नहीं ॥

अर्थात् जैसे पूर्व किये कर्मानुकूल ही सब को भला बुरा फल मिलता है इसी प्रकार अब जैसे कर्म करेंगे वैसा अच्छा बुरा फल आगे भी अवश्य मिलेगा इस पर विश्वास रख के अच्छे ही कर्म करने चाहिये ॥१०२॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं—
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा—
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०३॥

(भीममिति) भयानक वन भी उस मनुष्य के लिये प्रधान नगर [राजधानी] के समान हो जाता है और सब लोग उस के मित्र हो जाते तथा समस्त भूमि उस के अर्थ रत्नों से भर जाती है जिस का पूर्वजन्म में सञ्चित किया बहुतसा पुण्य उदय होता है ॥

अर्थात् पुण्यात्मा पुरुष जहां कहीं जङ्गल में भी जा बैठे तो वहां भी उस को धनैश्वर्यादि सुख की सब सामग्री विना परिश्रम किये प्राप्त होजाती

है । यह पुण्य का प्रताप है इस लिये पुण्य करना चाहिये ॥१०३॥

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः–
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ।
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धनं–
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥१०४॥

(क इति) इस श्लोक में ९ प्रश्न और उन के उत्तर हैं–प्रश्न–लाभ क्या है। उ० गुणियों का सङ्ग । प्र० दुःख क्या है ? उ० मूर्खों की सङ्गति । प्रश्न हानि क्या है ? उ० उत्तम समय को व्यर्थ खोना वा समय पर चूक जाना । प्र० निपुणता क्या है ? उ० धर्म में प्रीति होना । प्रश्न शूर कौन है ? उत्तर जो इन्द्रियों को वश में रक्खे । प्रश्न अच्छी स्त्री कौन है ? । उ० जो पति की आज्ञा में रहे । प्रश्न–धन क्या है ? उ० विद्या । प्रश्न–सुख क्या है ? उ० परदेश में न रहना । प्रश्न–राज्य क्या है ? उ० आज्ञा का चलना ॥

इस लिये गुणी लोगों के सत्सङ्ग आदि करने योग्य और मूर्खसङ्गति आ त्यागने योग्य काम कल्याणकारी मानने चाहिये ॥१०४॥

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥१०५॥

(अप्रियवचनदरिद्रैरिति) जो पुरुष कठोर वचन नहीं कहते, सदा मीठा वचन बोलते, अपनी ही स्त्री से सन्तुष्ट रहते और पराई निन्दा नहीं करते हैं ऐसे सत्पुरुषों से यह पृथ्वी कहीं २ शोभायुक्त है । सर्वत्र नहीं ॥

अर्थात् ऐसे पुरुष कहीं २ कोई २ होते हैं । जिन को अपने देश वा कुल की शोभा बढ़ानी हो वे ऐसे २ शुद्ध आचरणों का सेवन करें ॥ १०५ ॥

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते–
र्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने–
र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ १०६ ॥

(कदर्थितस्येति) यदि धीर पुरुष पर विपत्ति भी पड़जाय तौ भी उस का स्वाभाविकगुण धैर्य नष्ट नहीं होता जैसे जलते हुए अग्नि को चाहे कितना ही

टेढ़ा उलटा करो परन्तु उस की ज्वाला (लपट) ऊपर को ही उठाती है किन्तु नीचे को कदापि नहीं जाती ॥

इस लिये मनुष्य को प्रत्येक काम में धीरज धरने का स्वभाव डालना चाहिये जिस से विपत् समय में दुःख न सतावे ॥ १०६ ॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य-
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ १०७ ॥

(कान्तेत्यादि) जिस पुरुष के चित्त को स्त्री के कटाक्षरूपी बाण व्याकुल नहीं करते—और जिस के चित्त में क्रोधरूप अग्नि नहीं भड़कता तथा जो इन्द्रियों के विषयों से नहीं खैंचागया वही धीर पुरुष तीनों भुवनों को जीत सकता है ॥

अर्थात् काम क्रोध और लोभ में अधिक न फंसना चाहिये कामादि के वशीभूत न होना ही धीरज का सुधारना है । ऐसा ही मनुष्य वास्तव में चक्रवर्ती राज्य का अधिकारी हो सकता है ॥ १०७ ॥

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ॥
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा ॥ १०८ ॥

(एकेनापीति) एक ही पराक्रमी पुरुष अपने प्रबल पराक्रम से समस्त भूमण्डल को अपने वश में कर सकता है जैसे एक सूर्य सब जगत् को प्रकाश युक्त करता है ॥

इस लिये शूरवीर साहसी उद्योगी धीर, बलवान्, बुद्धिमान्, पराक्रमी सन्तान होने का उद्योग मनुष्य को करना चाहिये ॥ १०८ ॥

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्-
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते-
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥१०९॥

(वह्निस्तस्येति) उस पुरुष के लिये अग्नि भी जल की नाईं शान्त हो जा-

ता है, समुद्र भी नहर के समान हो जाता सुमेरु पर्वत छोटी शिला के तुल्य दीख पड़ता है, सिंह हरिण के बराबर जान पड़ता, सर्प माला के समान हो जाता और विष अमृतसा प्रतीत होता है जिस के शरीर में सम्पूर्ण लोक का मोहने वाला एक शील विराजमान है ॥

विचारशील विद्वान् पुरुष ऐसे स्वभाव और विचार से कार्य साध सकता है जिस से अग्नि आदि भी भय के हेतु न रहें अथवा सत्य और धर्म के प्रधान प्रबल प्रताप के सामने अग्नि आदि जलादि के तुल्य हो जाते हैं जैसे भक्त प्रहलादादि होगये हैं ॥ १०९ ॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाम् ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति-
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ ११० ॥

(लज्जेति) लज्जा आदि गुणों को उत्पन्न करने वाली माता के समान अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली और सदा स्वाधीन रहने हारी ऐसी प्रतिज्ञा को सत्यवादी तेजस्वी पुरुष कदापि नहीं त्यागते प्रत्युत प्राणों का छोड़ देना उन के लिये दुःखदायक नहीं होता ॥

अपनी प्रतिज्ञा का पालन सब मनुष्यों को विशेष कर करना चाहिये । क्योंकि माता के तुल्य रक्षा करने वाली प्रतिज्ञा होती है ॥ ११० ॥

इति भाषार्थसहितं श्रीभर्त्तृहरिकृतं नीतिशतकं
समाप्तम् ॥

॥ सनातनधर्मपुस्तकालय का सूचीपत्र ॥

—पाणिनीय अष्टाध्यायीसंस्कृतभाषा वृत्तिसोदाहरण २)
२—ब्राह्मणसर्वस्वमासिकपत्र १ भाग १॥)
३—ब्रा०स० मासिकपत्र २ भाग १॥)
४—गणरत्नमहोदधि (व्याकरण गणपाठ-श्लोकबद्धव्याख्या सहित) १)
धातुपाठसाधनसूत्रों सहित ।)
वार्त्तिकपाठ भाषाटीका तथा उदाहरण सहित ।)
५ दर्शपौर्णमासपद्धति भाषाटीका ॥)
६ वृष्टिसंग्रह पद्धति भा०टी० ।)
७ स्मार्त्तकर्म पद्धति भाषाटीका ।)
८ उपनयनपद्धति भाषाटीका ।)
९—गर्भाधानादि नवसंस्कार पद्धति भाषाटीका ≡)
१० त्रिकाल सन्ध्या भाषाटीका —)
११ कातीयतर्पण भाषाटीका —)
१२ शिवस्तोत्र भा०टी०)।
१३ हरिस्तोत्र भा०टी०)।
१४ भर्तृहरितीनों शतक भा०टी० ॥)
१५ मानवगृह्यसूत्र भा० टी० ॥)
१६ आपस्तम्बगृह्यसूत्र भा०टी० ।)
१७ दयानन्दतिमिरभास्कर ३)
१८ सत्यार्थप्रकाश समीक्षा (स०प्र० की १५० अशुद्धि) =)
१९ विधवाविवाह निराकरण द्वितीय भाग —)
२० मुक्तिप्रकाश भाषा (दयानन्दीय मुक्ति खण्डन) —)
२१ दयानन्द लीला भाषा में)॥
२२ भजनबीसा १) मे १०० पु०)।
२३ दयानन्द हृदय १) १०० पु०
२४ सत्योपदेश भजन १) में १०० पु०)।
दयानन्दमतदर्पण १) में १०० पुस्तक)।
दयानन्दकेमूल सिद्धान्त की हानि)॥ २) में १०० पुस्तक
२५ शुक्ल यजुर्वेदी रुद्री ≡)
२६ पारस्कर गृह्यसूत्र हरिहर भाष्य सहित १॥)
२७ पञ्चतन्त्र भाषाटीका २)
२८ विनयपत्रिका तुलसीदासकृत ।=)
२९ सामुद्रिक भाषाटीका ।)
३० जातकालंकारज्योतिषभाषाटीका।—)
३१ कर्मविपाक भाषाटीका १)
३२ सारस्वत मूल ॥)
३३ दुर्गासप्तसतीपाकिटबुक(तावीज)≡)
३४ भगवद्गीता (तावीज)
३५ कहावत कलपद्रुम ॥)
३६ मन्दालसाख्यान भाषा ।=)
३७ स्त्री सुबोधिनी १।)
३८ भक्तमालनाभाजीकृत सटीक १।)
३९ प्रभाती संग्रह ≡)
४० तुलसीदासकृतरामायण गुटका १)
४१ " रफ् कागज ॥।)
४२ शिवमहिम्नस्तोत्र मूल छोटा —)
४३ चर्पटपञ्जरीस्तोत्र)॥
४४ शिवसहस्र नाम मूल =)
४५ विष्णुसहस्रनामगुटकामूल =)॥
४६ बृहत्स्तोत्ररत्नाकर गुटका ॥)
४७ दुर्गासप्तशती छोटा गुटका ।=)
४८ दुर्गासप्तशती भा०टी० ॥।)

४९ माधवनिदान (वैद्यक) भा० टी० १॥)
५० अमरकोश मूल छोटा ।)
५१ अमरकोश भाषाटीका १॥)
५२ अभिमन्युनाटक ।॥)
५३ द्रौपदी वस्त्र हरणनाटक ॥)
५४ प्रह्लाद नाटक ।=)
५५ मोरध्वज नाटक ॥)
५६ रम्भाशुक संवाद =)
५७ गङ्गालहरी भाषाटीका तथा शिखरिणी छन्द ।)
५८ रघुवंशमल्लिनाथकृतटीकासहित १।)
५९ भोजप्रबन्धमूल ।≡)
६० धनुर्वेद संहिता भा० टी० ॥=)
६१ होड़ाचक्र (ज्योतिष) -)
६२ जैमिनीयसूत्रपौलिषटीक ४ अध्याय ।=)
६३ शीघ्रबोध भा० टी० ।-)
६४ लघुपाराशरी भा० टी० ज्योतिष ≡)
६५ बालबोध ज्योतिष =)
६६ ज्योतिषसार भा० टी० १)
६७ वर्षदीपकपत्रीमार्ग ।)
६८ मुहूर्तचिन्तामणि भा० टी० १)
६९ तर्क संग्रह मूल -)
७० समासचक्र -)
७१ शब्दरूपावली -)॥
७२ धातुरूपावली लघुधातुपाठसहित ≡)
७३ [illegible] ।)
७४ सिद्धान्त कौमुदी पत्रपाठी नं० २)
७५ सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी टीका सहित ५)
७६ लघुकौमुदी हिन्दीवृत्तिसहित टी० ।)
७७ माध्यन्दिनीयाह्निक १॥)
७८ पार्वणश्राद्धपद्धति भा० टी० ।)
७९ कुशकर्म पद्धति ।≡)
८० हरिश्चन्द्रोपाख्यान भा० टी० ।=)
८१ सत्यनारायण कथा =)
८२ मनुस्मृति भाषाटीका २)
८३ वाल्मीकीयरामायण सटीक ८)
८४ श्रीमद्भागवतटीकाचूर्णिकासहित ८)
८५ श्रीमद्भागवत गुटका १॥)
८६ मार्कण्डेयपुराण भा० टी० ६)
८७ जैमिनीयाश्वमेधमूल ३)
८८ गरुड़पुराण भा० टी० प्रेतकल्प १)
८९ भजनपचासा नूतन छपा है =)
९० पञ्चमहायज्ञ विधि भा० टी० -)॥

इन पुस्तकों का डाकव्यय पृथक् तौल के हिसाब से लगेगा। नं० ४९ से पूर्व हमारे यहां के पुस्तक हैं उन को ५) नगद देकर लेने पर ६।) के पु० मिलेंगे। आगे २ अधिक लेने पर कमिशन भी अधिक मिलेगा। पुस्तक वी० पी० मंगाना चाहिये। ५) तक के पुस्तक मंगाने वाले ग्राहक अनुमान से डाकव्यय अवश्य भेजें तब पु० वी० पी० भेजे जायंगे। चिट्ठी पत्रादि निम्न पते से भेजें।

पता-मैनेजर सनातन धर्म्म पुस्तकालय

इटावा